अर्हम्

# स्वामी समन्तभद्र ।

## ( इतिहास )

अर्थात्

अनेक प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों आदि परसे बहुत खोजके बाद योजना किया हुआ स्वामीसमन्तभद्रका पवित्र जीवनचरित्र, 'समय-निर्णय' और 'ग्रन्थ-परिचय' नामक दो खास निबन्धों सहित ।

---

प्रयोजक—

**'युगवीर' पं० जुगलकिशोर मुख्तार,**

सरसावा, जिला सहारनपुर ।

भूतपूर्व सम्पादक,

'जैनहितैषी' और 'जैनगजट' ।

---

प्रकाशक—

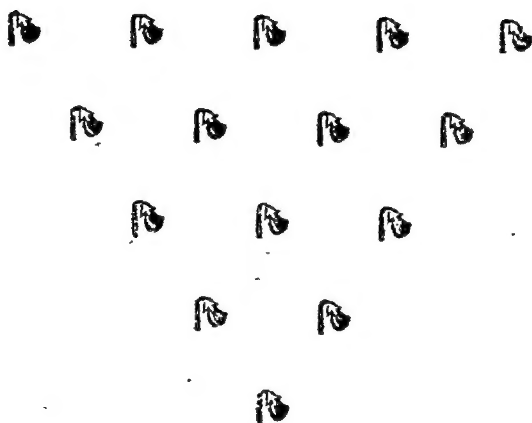
**जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय ।**

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।

श्रावण वि० सं० १९८२; जुलाई सन् १९२५ ।

प्रथम संस्करण ।

प्रकाशक—
छगनमल बाकलीवाल
मालिक—
जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव–बम्बई।



प्रिंटर—
मंगेश नारायण कुलकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
ठाकुरद्वार रोड, बम्बई।

# समर्पण--पत्र।

श्रीयुत पंडित नाथूरामजी प्रेमी,

हीराबाग, बम्बई।

मान्य महोदय सुहृद्वर,

स्वामी समन्तभद्रके पवित्र जीवन-वृत्तान्तोंको इधर उधर बिखरा हुआ, अन्धकाराच्छन्न और नष्ट होता हुआ देख कर मुझे खेद होता था। मेरी बहुत दिनोंसे यह इच्छा थी कि मैं यथाशक्ति उन्हें एक पुस्तकमें संचित और संकलित करूँ। हालमें, 'रत्नकरण्डक' नामके उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) पर एक 'प्रस्तावना' लिख देनेकी आपकी सातिशय प्रेरणाको पाकर, उसे लिखते हुए, मैं स्वामीजीके विशेष परिचयके लिये उनके इस पावन 'इतिहास' को लिखनेमें समर्थ हो सका हूँ; इस दृष्टिसे यह आपकी ही प्रेरणाका फल है और आप इसे पानेके मुस्तहक़ हैं। आपकी समाजसेवा, साहित्यसेवा, इतिहासप्रीति, सत्यरुचि और गुणज्ञता भी सब मिलकर मुझे इस बातके लिये प्रेरित कर रही हैं कि मैं अपनी इस पवित्र और प्यारी कृतिको आपकी भेट करूँ। अतः मैं आपके करकमलोंमें इसे सादर समर्पित करता हूँ। आशा है आप स्वयं इससे लाभ उठाते हुए दूसरोंको भी यथेष्ट लाभ पहुँचानेका यत्न करेंगे।

आपका मित्र—

जुगलकिशोर, मुख्तार।

# विषय-सूची ।

इसका प्रधान कारण यथेष्ट साधनसामग्रीकी अप्राप्ति है । समाज अपने प्रमादसे, यद्यपि, अपनी बहुतसी ऐतिहासिक सामग्रीको खो चुका है फिर भी जो अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है। परंतु वह इतनी अस्तव्यस्त तथा इधर उधर बिखरी हुई है और उसको माल्रम करने तथा प्राप्त करनेमें इतनी अधिक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती हैं कि उसका होना न होना बराबर हो रहा है । वह न तो अधिकारियों-के स्वयं उपयोगमें आती है, न दूसरोंको उपयोगके लिये दी जाती है और इसलिये उसकी दिनपर दिन तृतीया गति ( नष्टि ) होती रहती है, यह बड़े ही दुःखका विषय है !

साधनसामग्रीकी इस विरलताके कारण ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसंधान और उनकी जाँचमें कभी कभी बड़ी ही दिक्कतें पेश आती हैं और कठिनाइयाँ मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं । एक[1] नामके कई कई और विद्वान् हो गये हैं; एक विद्वान् आचार्यके जन्म, दीक्षा, गुणप्रत्यय और देशप्रत्ययादिके भेदसे कई[2] कई नाम अथवा उपनाम भी हुए हैं;

१ जैसे, 'पद्मनन्दि' और 'प्रभाचन्द्र' आदि नामोंके धारक बहुत से आचार्य हुए हैं । 'समन्तभद्र' नामके धारक भी कितने ही विद्वान् हो गये हैं, जिनमें कोई 'लघु' या 'चिक,' कोई 'अभिनव', कोई 'गेरुसोप्पे,' कोई 'भट्टारक' और कोई 'गृहस्थ' समन्तभद्र कहलाते थे । इन सबके समयादिका कुछ परिचय लेखककी लिखी हुई रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें, 'ग्रंथपर संदेह' शीर्षकके नीचे, दिया गया है । स्वामी समन्तभद्र इन सबसे भिन्न थे और वे बहुत पहले हो गये हैं ।

२ जैसे, 'पद्मनन्दि' यह कुन्दकुन्दाचार्यका पहला दीक्षानाम और बादको 'कोण्डकुन्दाचार्य' यह उनका देशप्रत्यय नाम हुआ है; क्योंकि वे 'कोण्डकुन्दपुर' के निवासी थे । गुर्वावलियोंमें आपके एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छाचार्य नाम भी दिये हैं, जो गुणादि प्रत्ययको लिये हुए समझने चाहिये और इन नामोंके दूसरे आचार्य भी हुए हैं ।

और दूसरे विद्वानोंने उसका यथारुचि—चाहे जिस नामसे—अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है; एक नामके कई कई पर्यायनाम भी होते हैं और उन पर्यायनामों अथवा आंशिक पर्यायनामोंसे भी विद्वानों तथा आचार्योंका उल्लेख[1] मिलता है; कितने ही विभिन्न भाषाओंके अनुवादोंमें, कभी कभी मूलग्रंथ और ग्रंथकारके नामोंका भी अनुवाद कर दिया जाता है अथवा वे नाम अनुवादित रूपसे ही उन भाषाओं-के ग्रंथोंमें उल्लेखित हैं; एक व्यक्तिके जो दूसरे नाम, उपनाम, पर्यायनाम अथवा अनुवादित नाम हों वे ही दूसरे व्यक्तियोंके मूल नाम भी हो सकते हैं और अक्सर होते रहे हैं; समसामयिक व्यक्तियोंके नामोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है; कोई कोई विद्वान् कई कई आचा-र्योंके भी शिष्य हुए हैं और उन्होंने अपनेको चाहे जहाँ चाहे जिस आचा-र्यका शिष्य सूचित किया है; एक संघ अथवा गच्छके किसी अच्छे आचार्यको दूसरे संघ अथवा गच्छने भी अपनाया है और उसे अपने ही संघ तथा गच्छका आचार्य सूचित किया है; इसी तरहपर कोई कोई आचार्य अनेक मठोंके अधिपति अथवा अनेक स्थानोंकी गद्दियोंके स्वामी भी हुए हैं और इससे उनके कई कई पट्टशिष्य हो गये हैं, जिनमेंसे प्रत्येकने उन्हें अपना ही पट्टगुरु सूचित किया है। इस प्रका-रकी हालतोंमें किसीके असली नाम और असली कामका पता चलाना कितनी टेढ़ी खीर है, और एक ऐतिहासिक विद्वानके लिये यथार्थ वस्तुस्थितिका निर्णय करने अथवा किसी खास घटना या उल्लेखको किसी खास व्यक्तिके साथ संयोजित करनेमें कितनी अधिक उलझनों

१ जैसे नागचन्द्रका कहीं 'नागचन्द्र' और कहीं 'भुजंगसुधाकर' इस पर्याय नामसे उल्लेख पाया जाता है। और प्रभाचन्द्रका प्रमेन्दु यह आंशिक पर्यायनाम है जिसका बहुत कुछ व्यवहार देखनेमें आता है।

तथा कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इसका अच्छा अनुभव वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ अर्सेतक काम करनेका अवसर मिला हो। अस्तु। यथेष्ट साधनसामग्रीके बिना ही, इन सब अथवा इसी प्रकारकी और भी बहुतसी दिक्कतों, उलझनों और कठिनाइयोंमेंसे गुजरते हुए, हमने आजतक स्वामी समन्तभद्र-के विषयमें जो कुछ अनुसंधान किया है—जो कुछ उनकी कृतियों, दूसरे विद्वानोंके ग्रंथोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्यों और शिला-लेखों आदि परसे हम माळूम कर सके हैं—अथवा जिसका हमें अनुभव हुआ है उस सब इतिवृत्तको अब संकलित करके, और अधिक साधन-सामग्रीके मिलनेकी प्रतीक्षामें न रहकर, प्रकाशित कर देना ही उचित माळूम होता है, और इस लिये नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है:—

---

## पितृकुल और गुरुकुल।

स्वामी समन्तभद्र के बाल्यकालका अथवा उनके गृहस्थ-जीवनका प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता, और न यह माळूम होता है कि उनके मातापिताका क्या नाम था। हाँ, आपके 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी एक प्राचीन प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई श्रवणबेल्गोलके दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारमें पाई जाती है। उसके अन्तमें लिखा है—[1]

"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामि-समन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।"

इससे माळूम होता है कि समन्तभद्र क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए थे और एक राजपुत्र थे। आपके पिता फणिमंडलान्तर्गत 'उरगपुर'के

---

१ देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७–८, पृष्ठ ४८०। आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें भी, ताड़पत्रोंपर, प्रायः ऐसे ही लेखवाली प्रति मौजूद है।

राजा थे, और इस लिये उरगपुरको आपकी जन्मभूमि अथवा बाल्यलीलाभूमि समझना चाहिये । 'राजावलीकथे' में आपका जन्म 'उत्कलिका' ग्राममें होना लिखा है जो प्रायः उरगपुरके ही अंतर्गत होगा । यह उरगपुर 'उरैयूर' का ही संस्कृत अथवा श्रुतिमधुर नाम जान पड़ता है जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी । पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते हैं । यह नगर कावेरीके तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धिशाली जनपद था ।

समंतभद्रका बनाया हुआ 'स्तुतिविद्या' अथवा 'जिनस्तुतिशतं' नामका एक अलंकारप्रधान ग्रंथ है, जिसे 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' भी कहते हैं । इस ग्रंथका 'गत्वैकस्तुतमेव' नामका जो अन्तिम पद्य है वह कवि और काव्यके नामको लिये हुए एक चित्रबद्ध काव्य है । इस काव्यकी छह आरे और नव वलयवाली चित्ररचनापरसे ये दो पद निकलते हैं—

'शांतिवर्मकृतं,' 'जिनस्तुतिशतं' ।

इनसे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ है और इस लिये 'शान्तिवर्मा' समंतभद्रका ही नामान्तर है । परंतु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं हो सकता; क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम नहीं होते । जान पड़ता है यह आचार्य महोदयके मातापितादिद्वारा

१ महाकवि कालिदासने अपने 'रघुवंश' में भी 'उरगपुर' नामसे इस नगरका उल्लेख किया है ।

२ यह नाम ग्रंथके आदिम मंगलाचरणमें दिये हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' इस प्रतिज्ञावाक्यसे पाया जाता है ।

३ देखो महाकवि नरसिंहकृत 'जिनशतक-टीका' ।

रक्खा हुआ उनका जन्मका शुभ नाम था । इस नामसे भी आपके क्षत्रियवंशोद्भव होनेका पता चलता है । यह नाम राजघरानोंका है । कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हो गये हैं । कदम्बोंमें 'शांतिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है ।

यहाँ पर किसीको यह आशंका करनेकी जरूरत नहीं कि 'जिन-स्तुतिशतं' नामका ग्रंथ समंतभद्रका बनाया हुआ न होकर शांति-वर्मा नामके किसी दूसरे ही विद्वान्का बनाया हुआ होगा; क्योंकि यह ग्रंथ निर्विवाद रूपसे स्वामी समंतभद्रका बनाया हुआ माना जाता है । ग्रंथकी प्रतियोंमें कर्तृत्वरूपसे समंतभद्रका नाम लगा हुआ है, टीकाकार महाकवि नरसिंहने भी उसे '**तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समंतभद्राचार्यविरचित**' सूचित कि और दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उसके वाक्योंका, समंतभद्रके नामसे, अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है । उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्ता-मणि' को लीजिये, जिसमें **अजितसेना**चार्यने निम्नप्रतिज्ञावाक्यके साथ इस ग्रंथके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

**श्रीमत्समंतभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम् ।**
**लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम् ॥**

इसके सिवाय पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने 'स्वयंभूस्तोत्र' का जो संस्करण संस्कृतटीका और मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है उसमें समंतभद्रका परिचय देते हुए उन्होंने यह सूचित किया है कि कर्णाटकदेशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्रतिमें आचार्यके नामका इस प्रकारसे उल्लेख किया है—"**इति फणि-मंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शांतिवर्मनामा श्रीसमं-**

तभद्रेण ।" यदि पंडितजीकी यह सूचना सत्य × हो तो इससे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है कि शांतिवर्मा समन्तभद्रका ही नाम था।

वास्तवमें ऐसे ही महत्त्वपूर्ण काव्यग्रंथोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है । इस ग्रंथमें आपने जो अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए निर्मल भक्तिगंगा बहाई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही हैं। आपसे भिन्न 'शांतिवर्मा' नामका

× पं० जिनदासकी इस सूचनाको देखकर हमने पत्रद्वारा उनसे यह मालूम करना चाहा कि कर्णाटक देशसे मिली हुई अष्टसहस्रीकी वह कौनसी प्रति है और कहाँके भंडारमें पाई जाती है जिसमें उक्त उल्लेख मिलता है। क्योंकि दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारसे मिली हुई 'आप्तमीमांसा'के उल्लेखसे यह उल्लेख कुछ भिन्न है। उत्तरमें आपने यही सूचित किया कि यह उल्लेख पं० वंशीधरजीकी लिखी हुई अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना परसे लिया गया है, इस लिये इस विषयका प्रश्न उन्हींसे करना चाहिये। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना ( परिचय ) को देखने पर मालूम हुआ कि उसमें 'इति' से 'समन्तभद्रेण' तकका उक्त उल्लेख ज्योंका त्यों पाया जाता है, उसके शुरूमें 'कर्णाटदेशतो लब्धपुस्तके' और अन्तमें 'इत्याद्युल्लेखो दृश्यते' ये शब्द लगे हुए हैं। इसपर गत ता० ११ जुलाईको एक रजिस्टर्ड पत्र पं० वंशीधरजीको शोलापुर भेजा गया और उनसे अपने उक्त उल्लेखका खुलासा करनेके लिये प्रार्थना की गई। साथ ही यह भी लिखा गया कि 'यदि आपने स्वयं उस कर्णाट देशसे मिली हुई पुस्तकको न देखा हो तो जिस आधार पर आपने उक्त उल्लेख किया है उसे ही कृपया सूचित कीजिये'। ३ री अगस्त सन् १९२४ को दूसरा रिमाइण्डर पत्र भी दिया गया परंतु पंडितजीने दोनोंमेंसे किसीका भी कोई उत्तर देनेकी कृपा नहीं की। और भी कहींसे इस उल्लेखका समर्थन नहीं मिला। ऐसी हालतमें यह उल्लेख कुछ संदिग्ध मालूम होता है। आश्चर्य नहीं जो जैनहितैषीमें प्रकाशित उक्त 'आप्तमीमांसा'के उल्लेखकी गलत स्मृति परसे ही यह उल्लेख कर दिया गया हो; क्योंकि उक्त प्रस्तावनामें ऐसे और भी कुछ गलत उल्लेख पाये जाते हैं— जैसे 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' नामक पद्यको मल्लिषेणप्रशस्तिका बतलाना, जिसका वह पद्य नहीं है।

कोई दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ भी नहीं । इस लिये उक्त शंका निर्मूल जान पड़ती है । हाँ, यह कहा जा सकता है कि समंतभद्रने अपने मुनिजीवनसे पहले इस ग्रंथकी रचना की होगी । परंतु ग्रंथके साहित्य परसे इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता । आचार्य महोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति मुनिअवस्थाकी ही माॡम होती है । गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकारकी महापांडित्यपूर्ण और महदुच्चभावसपन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं । इस विषयका निर्णय करनेके लिये, संपूर्ण ग्रंथको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य नं० १९,७९ और ११४ * को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये । १९ वें पद्यसे ही यह माॡम हो जाता है कि स्वामी संसारसे भय-भीत होने पर शरीरको लेकर ( अन्य समस्त परिग्रह छोड़कर ) वीतराग भगवान्की शरणमें प्राप्त हो चुके थे, और आपका आचार उस समय ( ग्रंथरचनाके समय ) पवित्र, श्रेष्ठ, तथा गणधरादि अनुष्ठित आचार जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था । वह पद्य इस प्रकार है—

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्यशंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचारं'+ और 'भयात् × तन्वायातं' ये अपने ( मा='मां' पदके ) दो खास विशेषण पद दिये

* यह पद्य आगे ' भावी तीर्थंकरत्व ' शीर्षकके नीचे उद्धृत किया गया है ।

\+ ' पूतः पवित्रः सु सुष्टु अनवमः गणधराद्यनुष्ठितः आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारम् '—इति टीका ।

× भयात् संसारभीतेः । तन्वा शरीरेण ( सह ) आयातं आगतं ।

हैं उसी प्रकार ७९ वें † पद्यमें उन्होंने ' **ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं** ' विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे माल्म होता है कि समन्तभद्रके मनसे यद्यपि त्रास उद्वेग–बिलकुल नष्ट (अस्त) नहीं हुआ था–सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था–फिर भी वह ध्वंसमानके समान हो गया था, और इस लिये उनके चित्तको, उद्वेजित अथवा संत्रस्त करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊँचे दर्जे पर जाकर होती है और इस लिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाता है कि इस ग्रंथकी रचना उनके मुनिजीवनमें ही हुई है। टीकाकार नरसिंहभट्टने भी, प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें 'श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचित' लिखनेके अतिरिक्त, ८४ वें पद्यमें आए हुए ' ऋद्धं ' विशेषणका अर्थ ' वृद्धं ' करके, और ११५ वें पद्यके ' **वन्दीभूतवतः** ' पदका अर्थ ' **मंगलपाठकी भूतवतोपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम** ' ऐसा देकर, यही सूचित किया है कि यह ग्रंथ समन्तभद्रके मुनिजीवनका बना हुआ है। अस्तु।

स्वामी समन्तभद्रने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और विवाह कराया या कि नहीं, इस बातके जाननेका प्रायः कोई साधन नहीं है। हाँ, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि कदम्बवंशी राजा शान्तिवर्मा और शान्तिवर्मा समंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे तो यह सहजहीमें बतलाया जा सकता है कि आपने गृहस्थाश्रमको धारण किया था और विवाह भी कराया था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि आपके पुत्रका नाम

† यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

स्वसमान समानन्द्या भासमान स माऽनघ ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥

मृगेशवर्मा, पौत्रका रविवर्मा, प्रपौत्रका हरिवर्मा और पिताका नाम काकुत्स्थवर्मा था; क्योंकि काकुत्स्थवर्मा, मृगेशवर्मा और हरिवर्माके जो दानपत्र जैनियों अथवा जैन संस्थाओंको दिये हुए हल्सी और वैजयन्तीके मुकामोंपर पाये जाते हैं उनसे इस वंशपरम्पराका पता चलता है* । इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कदम्बवंशी राजा प्रायः सब जैनी हुए हैं और दक्षिण ( बनवास ) देशके राजा हुए हैं; परंतु इतने परसे ही, नामसाम्यके कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि शांतिवर्मा कदम्ब और शांतिवर्मा समंतभद्र दोनों एक व्यक्ति थे। दोनोंको एक व्यक्ति सिद्ध करनेक लिये कुछ विशेष साधनों तथा प्रमाणोंकी जरूरत है जिनका इस समय अभाव है। हमारी रायमें, यदि समंतभद्रने विवाह कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहस्थाश्रममें नहीं रहे हैं, उन्होंने जल्दी ही, थोड़ी अवस्थामें, मुनि दीक्षा धारण की है और तभी वे उस असाधारण योग्यता और महत्ताको प्राप्त कर सके हैं जो उनकी कृतियों तथा दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्योंसे पाई जाती है और जिसका दिग्दर्शन आगे चल कर कराया जायगा। ऐसा मालूम होता है कि समन्तभद्रने बाल्यावस्थासे ही अपने आपको जैनधर्म और जिनेन्द्र देवकी सेवाके लिये अर्पण कर दिया था, उनके प्रति आपको नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोम रोम उन्हींके ध्यान और उन्हींकी वार्ताको लिये हुए था। ऐसी हालतमें यह आशा नहीं की जा सकती कि आपने घर छोड़नेमें विलम्ब किया होगा।

भारतमें ऐसा भी एक दस्तूर रहा है कि, पिताकी मृत्युपर राज्यासन सबसे बड़े बेटेको मिलता था, छोटे बेटे तब कुटुम्बको छोड़ देते

* देखो ' स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म ' नामकी पुस्तक, भाग दूसरा, पृष्ठ ८७ ।

थे और धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे; उन्हें अधिक समयतक अपनी देशीय रियासतमें रहनेकी भी इजाजत नहीं होती थी * । और यह एक चर्या थी जिसे भारतकी, खासकर बुद्धकालीन भारतकी, धार्मिक संस्थाने छोटे पुत्रोंके लिये प्रस्तुत किया था । इस चर्यामें पड़ कर योग्य आचार्य कभी कभी अपने राजवन्धुसे भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते थे । संभव है कि समंतभद्रको भी ऐसी ही किसी परिस्थितिमेंसे गुजरना पड़ा हो; उनका कोई बड़ा भाई राज्याधिकारी हो, उसे ही पिताकी मृत्यु पर राज्यासन मिला हो, और इस लिये समंतभद्रने न तो राज्य किया हो और न विवाह ही कराया हो; बल्कि अपनी स्थितिको समझ कर उन्होंने अपने जीवनको शुरूसे ही धार्मिक साँचेमें ढाल लिया हो; और पिताकी मृत्यु पर अथवा उससे पहले ही अवसर पाकर आप दीक्षित हो गये हों; और शायद यही वजह हो कि आपका फिर उरगपुर जाना और वहाँ रहना प्रायः नहीं पाया जाता । परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, आपकी धार्मिक परिणतिमें कृत्रिमताकी जरा भी गंध नहीं थी । आप स्वभावसे

* इस दस्तूरका पता एक प्राचीन चीनी लेखकके लेखसे मिलता है ( Ma-twan-lin, cited in Ind. Ant. IX, 22. देखो, विन्सेण्ट स्मिथकी 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया' पृ० १८५, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

An ancient Chinese writer assures us that 'according to the laws of India, when a king dies, he is succeeded by his eldest son (Kumărarăjă); the other sons leave the family and enter a religious life, and they are no longer allowed to reside in their native kingdom.'

ही धर्मात्मा थे और आपने अपने अन्तःकरणकी आवाजसे प्रेरित होकर ही जिनदीक्षा * धारण की थी ।

दीक्षासे पहले आपकी शिक्षा या तो उरैयूरमें ही हुई है और या वह कांची अथवा मदुरामें हुई जान पड़ती है। ये तीनों ही स्थान उस वक्त दक्षिण भारतमें विद्याके खास केन्द्र थे और इन सबोंमें जैनियोंके अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे जो उस समय बड़े बड़े विद्यालयों तथा शिक्षालयोंका काम देते थे ।

आपका दीक्षास्थान प्रायः कांची या उसके आसपासका कोई ग्राम जान पड़ता है और कांची * ही—जिसे 'कांजीवरम्' भी कहते हैं—आपके धार्मिक उद्योगोंकी केन्द्र रही मालूम होती है। आप वहींके दिगम्बर साधु थे। '**कांच्यां नग्नाटकोऽहं** × ' आपके इस वाक्यसे भी यही ध्वनित होता है । कांचीमें आप कितनी ही वार गये हैं, ऐसा उल्लेख + 'राजावलीकथे' में भी मिलता है ।

---

* सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिनानुष्ठित सम्यक् चारित्रके ग्रहणको 'जिनदीक्षा' कहते हैं। समन्तभद्रने जिनेन्द्रदेवके चारित्र गुणको अपनी जाँच-द्वारा न्यायविहित और अद्भुत उदयसहित पाया था, और इसी लिये वे सुप्रसन्न-चित्तसे उसे धारण करके जिनेन्द्रदेवकी सच्ची सेवा और भक्तिमें लीन हुए थे। नीचेके एक पद्यसे भी उनके इसी भावकी ध्वनि निकलती है—

अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥

—युक्त्यनुशासन ।

* द्रविड देशकी राजधानी जो असेंतक पल्लवराजाओंके अधिकारमें रही है। यह मद्राससे दक्षिण–पश्चिमको ओर ४२ मीलके फासलेपर, वेगवती नदी पर स्थित है ।

× यह पूरा पद्य आगे दिया जायगा ।

+ स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० ३० ।

पितृकुलकी तरह उनके गुरुकुलका भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यह माळूम होता है कि आपके दीक्षागुरु-का क्या नाम था। स्वयं उनके ग्रंथोंमें उनकी कोई प्रशस्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और न दूसरे विद्वानोंने ही उनके गुरुकुलके सम्बंधमें कोई खास प्रकाश डाला है। हाँ, इतना जरूर माळूम होता है कि आप 'मूलसंघ' के प्रधान आचार्योंमें थे। विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि 'हस्तिमल्ल' और 'अय्यप्पार्य' ने 'श्रीमूलसंघव्योमेन्दुः' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघरूपी आकाशका चंद्रमा लिखा है *। इसके सिवाय श्रवणबेल्गोलके कुछ शिलालेखोंसे इतना पता और चलता है कि आप श्रीभद्र-बाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मनंदि अपर नाम श्रीकोंडकुंदमुनिराज, उनके वंशज उमास्वाति अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य, और गृध्रपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ, इस प्रकार महान् आचार्योंकी वंशपरम्परामें, हुए हैं। यथा—

श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरितिश्रुतः ।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥
चंद्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः ।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां ॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥
श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः,
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः ।

* देखो, 'विक्रान्तकौरव' और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' नामके ग्रन्थ ।

चारित्रचञ्चुरखिलावनिपालमौलि—,
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥
एवं महाचार्यपरंपरायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः ।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः ॥

शिलालेख नं० ४० ( ६४ )।

इस शिलालेखमें जिस प्रकार चंद्रगुप्तको भद्रबाहुका और बलाकपिच्छको उमास्वातिका शिष्य सूचित किया है उसी प्रकार समंतभद्र, अथवा कुन्दकुन्द और उमास्वाति आचार्योंके विषयमें यह सूचित नहीं किया कि वे किसके शिष्य थे। दूसरे * शिलालेखोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है। और इससे यह मालूम होता है कि या तो लेखकोंको इन आचार्योंके गुरुओंके नाम मालूम ही न थे और या वे गुरु अपने उक्त शिष्योंकी कीर्तिकौमुदीके सामने, उस वक्त इतने अप्रसिद्ध हो गये थे कि उनके नामोंके उल्लेखकी ओर लेखकोंकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी अथवा उन्होंने उसकी कुछ जरूरत ही नहीं समझी। संभव है कि उन गुरुदेवोंके द्वारा उनकी विशेष उदासीन परिणतिके कारण साहित्यसेवाका काम बहुत कम हो और यही बात बादको समय बीतने पर उनकी अप्रसिद्धिका कारण बन गई हो। परंतु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि इस शिलालेखमें, और इसी प्रकारके दूसरे शिलालेखोंमें भी, जिस ढंगसे कुछ चुने हुए आचार्योंके बाद समंतभद्रका नाम दिया है उससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि स्वामी

* देखो 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक जिसे मिस्टर बी. लेविस राइसने सन् १८८९ में मुद्रित कराया था, अथवा उसका संशोधितसंस्करण १९२३ का छपा हुआ। शिलालेखोंके जो नये नंबर कोष्टक आदिमें दिये हैं वे इसी शोधित संस्करणके नम्बर हैं।

समंतभद्र बहुत ही खास आचार्योंमेंसे थे। उनकी कीर्ति उनके गुरुकुल अथवा गण गच्छसे ऊपर है; पितृकुलको भी वह उल्लंघ गई है। और इस लिये, साधनाभावके कारण, यदि हमें उनके गुरुकुलादिका पूरा पता नहीं चलता*तो न सही; हमें यहाँ पर उसकी चिन्ताको छोड़ कर अब आचार्यमहोदयके गुणोंकी ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये—यह मालूम करना चाहिये कि वे कैसे कैसे गुणोंसे विशिष्ट थे और उनके द्वारा धर्म, देश तथा समाजकी क्या कुछ सेवा हुई है।

---

* श्रवणबेल्गोलके दूसरे शिलालेखोंमें, और दूसरे स्थानोंके शिलालेखोंमें भी, कुन्दकुन्दको नन्दिगण तथा देशीय गणका आचार्य लिखा है। कुंदकुंदकी वंशपरम्परामें होनेसे समंतभद्र नन्दिगण अथवा देशीयगणके आचार्य ठहरते हैं। परंतु जैनसिद्धान्त भास्करमें प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें आपको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि यह पट्टावली पूरी तौर पर पट्टावलीके ढंगसे नहीं लिखी गई और न इसमें सभी आचार्योंका पट्टक्रमसे उल्लेख है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उसमें समन्तभद्रको सेनगणके आचार्योंमें परिगणित किया है। इन दोनोंके विरुद्ध १०८ नंबरका शिलालेख यह बतलाता है कि नंदि और सेनादि भेदोंको लिये हुए यह चार प्रकारका संघभेद भट्टाकलंकदेवके स्वर्गारोहणके बाद उत्पन्न हुआ है और इससे समंतभद्र न तो नन्दिगनके ठहरते हैं और न सेनगणके; क्योंकि वे अकलंकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं। अकलंकदेवसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके गणोंका कोई उल्लेख भी देखनेमें नहीं आता। इन्द्रनन्दिके 'नीतिसार' और १०५ नंबरके शिलालेखमें इन चारों संघोंका प्रवर्तक 'अर्हद्बलि' आचार्यको लिखा है; परंतु यह सब साहित्य अकलंकदेवसे बहुत ही पीछेका है। इसके सिवाय, तिरुमकूडलु-नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५ में ( E. C. III ) समंतभद्रको द्रमिल संघके अन्तर्गत नन्दि संघकी अरुंगल शाखा ( अन्वय ) का विद्वान् सूचित किया है। ऐसी हालतमें समंतभद्रके गणगच्छादिका विषय कितनी गड़बड़में है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

प्रबल आतंक छाया हुआ था और लोग उनके[1] नैरात्म्यवाद, शून्यवाद क्षणिकवादादि सिद्धान्तोंसे संत्रस्त थे—घबरा रहे थे—अथवा उन एकान्त गर्तोंमें पड़कर अपना आत्मपतन करनेके लिये विवश हो रहे थे उस समय दक्षिण भारतमें उदय होकर आपने जो लोकसेवा की है वह बड़े ही महत्त्वकी तथा चिरस्मरणीय है। और इस लिये शुभचंद्राचार्यने जो आपको 'भारतभूषण'[1] लिखा है वह बहुत ही युक्तियुक्त जान पड़ता है।

स्वामी समंतभद्र, यद्यपि, बहुत से उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यता वाले थे—ये चारों ही शक्तियाँ आपमें खास तौरसे विकाशको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण आपका निर्मल यश दूर दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस वक्त जितने वादी[2], वाग्मी[3], कवि[4] और गमक[5] थे उन सब पर आपके यशकी

१ समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः ।—पांडवपुराण।

२ 'वादी विजयवाग्वृत्तिः'—जिसकी वचनप्रवृत्ति विजयकी ओर हो उसे 'वादी' कहते हैं।

३ 'वाग्मी तु जनरंजनः'—जो अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण हो उसे 'वाग्मी' कहते हैं।

४ 'कविर्नूतनसंदर्भः—जो नये नये संदर्भ—नई नई मौलिक रचनाएँ तयार करनेमें समर्थ हो वह कवि है, अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन है, जो नानावर्णनाओंमें निपुण है, कृती है, नाना अभ्यासोंमें कुशलबुद्धि है और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यवहारोंमें कुशल) है उसे भी कवि कहते हैं; यथा—

प्रतिभोज्जीवनो नानावर्णना निपुणःकृती ।
नानाभ्यासकुशाग्रीयमति व्युत्पत्तिमान्कविः ।

—अलंकारचिन्तामणि ।

५ 'गमकः कृतिभेदकः'—जो दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्मको समझनेवाला उनकी तहतक पहुँचनेवाला हो और दूसरोंको उनका मर्म तथा रहस्य

छाया पड़ी हुई थी—आपका यश चूडामणिके तुल्य सर्वोपरि था—और वह वादको भी बड़े बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि, आजसे ग्यारह सौ वर्ष पहलेके विद्वान्, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशःसामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

—आदिपुराण।

भगवान् समंतभद्रके इन वादित्व और कवित्वादि गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्त्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये नीचे कुछ प्रमाणवाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

( १ ) यशोधरचरितके कर्ता और विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि वादिराजसूरि, समंतभद्रको 'उत्कृष्टकाव्य माणिक्यों-का रोहण ( पर्वत )' सूचित करते हैं और साथ ही यह भावना करते हैं कि वे हमें सूक्तिरूपी रत्नोंके समूहको प्रदान करनेवाले हों—

श्रीमत्समंतभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

( २ ) 'ज्ञानार्णव' ग्रंथके रचयिता योगी श्रीशुभचंद्राचार्य, समंतभद्रको 'कवीन्द्रभास्वान्' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, लिखते हैं कि जहाँ आप जैसे कवीन्द्र सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी

समझानेमें प्रवीण हो उसे 'गमक' कहते हैं। निश्चयात्मक प्रत्ययजनक और संशय-च्छेदी भी इसीके नामान्तर हैं।

किरणें स्फुरायमान हो रहीं हैं वहाँ वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह हँसीको ही प्राप्त होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता करने लगते हैं—और इस तरहपर उन्होंने समंतभद्रके मुकाबलेमें अपनी कविताकी बहुत ही लघुता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां,
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

( ३ ) अलंकारचिन्तामणिमें, अजितसेनाचार्यने समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें ' कविकुंजर ' ' मुनिवंद्य ' और ' जनानन्द ' ( लोगोंको आनंदित करनेवाले ) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि मैं उन्हें अपनी ' वचनश्री ' के लिये—वचनोंकी शोभा बढ़ाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवंद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥ ३ ॥

( ४ ) वरांगचरित्रमें, परवादि-दन्ति-पंचानन श्रीवर्धमानसूरि समंतभद्रको ' महाकवीश्वर ' और ' सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर ' प्रकट करते हुए, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्र कुवादियों ( प्रतिवादियों ) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे । साथ ही, यह भावना करते हैं कि वे महाकवीश्वर मुझ कविताकांक्षीपर प्रसन्न होवें—अर्थात्, उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करें—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥७॥

(५) भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें ' महान् कविवेधा ' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता अर्थात्, महाकवि-ब्रह्मा लिखा है और यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खंड खंड हो गये थे।—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

(६) ब्रह्म अजितने, अपने ' हनुमच्चरित्र'में, समन्तभद्रका जयघोष करते हुए, उन्हें ' भव्यरूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेवाला चंद्रमा ' लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि वे ' दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज ( खुजली ) को मिटानेके लिये अद्वितीय महौषधि ' थे—उन्होंने कुवादियोंकी बढ़ती हुई वादाभिलाषाको ही नष्ट कर दिया था—

जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्यकैरवचंद्रमाः ।
दुर्वादिवादकंडूनां शमनैकमहौषधिः ॥ १९ ॥

(७) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ ( २५४ ) में, जो शक संवत् १३२० का लिखा हुआ है, समंतभद्रको 'वादीभवज्रांकुशसूक्तिजाल' विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, यह सूचित किया है कि समंतभद्रकी सुन्दर उक्तियोंका समूह वादीरूपी हस्तियोंको वशमें करनेके लिये वज्रांकुशका काम देता है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि समन्तभद्रके प्रभावसे यह संपूर्ण पृथ्वी दुर्वादकोंकी वार्तासे भी विहीन हो गई—उनकी कोई बात भी नहीं करता—

समन्तभद्रस्स चिराय जीया—
द्वादीभवज्रांकुशसूक्तिजालः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं
वंध्यास दुर्वादुकवार्त्तयापि ॥

इस पद्यके बाद, इसी शिलालेखमें, नीचे लिखा पद्य भी दिया हुआ है और उसमें समन्तभद्रके वचनोंको 'स्फुटरत्नदीप' की उपमा दी है और यह बतलाया है कि वह दैदीप्यपान रत्नदीपक उस त्रैलोक्यरूपी संपूर्ण महलको निश्चित रूपसे प्रकाशित करता है जो स्यात्कारमुद्राको लिये हुए समस्तपदार्थोंसे पूर्ण है और जिसके अन्तराल दुर्वादकोंकी उक्तिरूपी अन्धकारसे आच्छादित हैं—

स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णं
त्रैलोक्यहर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति ।
दुर्वादुकोक्तितमसा पिहितान्तरालं
सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपः ॥

४० वें शिलालेखमें भी, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, समन्तभद्रको 'स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीप' और 'वादिसिंह' लिखा है। इसी तरह पर श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य **श्रीहरिभद्र-सूरिने**, अपनी 'अनेकान्तजयपताका' में समंतभद्रका 'वादिमुख्य' विशेषण दिया है और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है—"**आह च वादिमुख्यः समंतभद्रः** ।"

(८) गद्यचिन्तामणिमें, महाकवि **वादीभसिंह** समंतभद्र मुनीश्वरको 'सरस्वतीकी स्वच्छंदविहारभूमि' लिखते हैं, जिससे यह सूचित होता है कि समंतभद्रके हृदय-मंदिरमें सरस्वती देवी विना

किसी रोक टोकके पूरी आजादीके साथ विचरती थी और इस लिये समंतभद्र असाधारण विद्याके धनी थे और उनमें कवित्व वाग्मित्वादि शक्तियाँ उच्च कोटिके विकाशको प्राप्त हुई थीं यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियाँ खंड खंड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे, बड़े बड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे—

**सरस्वतिस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।**
**जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः॥**

( ९ ) श्रवणवेलोल्के शिलालेख नं० १०८ में, जो शक सं० १३५५ का लिखा हुआ है और जिसका नया नंबर २५८ है, मंगराजकवि सूचित करते हैं कि समंतभद्र वलाकपिच्छके बाद '**जिनशासनके प्रणेता**' हुए हैं, वे '**भद्रमूर्ति**' थे और उनके वचनरूपी वज्रके कठोर पातसे प्रतिवादीरूपी पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था—

**समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।**
**यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥**

( १० ) समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी—कुवादियोंकी क्या हालत होती थी, और वे कैसे नम्र अथवा विषण्ण और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे, इसका कुछ आभास अलंकार-चिन्तामणिमें उद्धृत किये हुए निम्न दो पद्योंसे मिलता है—

**कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे परुषोक्तयः।**
**समन्तभद्रयत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः॥ ४–३१५**

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते ।
कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैरानताननाः ॥ ५-१५६

पहले पद्यसे यह सूचित होता है कि कुवादीजन अपनी स्त्रियोंके निकट तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ सुनाते थे—परंतु जब समंतभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुर भाषी बन जाते थे और उन्हें '**पाहि पाहि**'—रक्षा करो, रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं; ऐसे सुन्दर मृदुवचन ही कहते बनता था। और दूसरा पद्य यह बतलाता है कि जब महावादी समंतभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादि जन नीचा मुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर समंतभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्ण वदन हो जाते और किं कर्तव्यविमूढ बन जाते थे।

(११) **अजितसेनाचार्यके** 'अलंकार-चिन्तामणि' ग्रंथमें और कवि **हस्तिमल्लके** 'विक्रान्तकौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा[1] ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम् ॥

इसमें यह बतलाया है कि वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट, शीघ्र और बहुत बोलनेवाले धूर्जटिकी जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर

१ 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी, जो शक सं० १२४१ में बनकर समाप्त हुआ है, यह पद्य पाया जाता है, सिर्फ 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानमें 'धूर्जटेरपि जिह्वा' यह पाठान्तर कुछ प्रतियोंमें देखा जाता है।

दूसरे विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समंतभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

इस पद्यसे भी समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी क्या हालत होती थी उसका कुछ बोध होता है।

कितने ही विद्वानोंने इस पद्यमें 'धूर्जटि'को 'महादेव' अथवा 'शिव'का पर्याय नाम समझा है और इस लिये अपने अनुवादोंमें उन्होंने 'धूर्जटि'की जगह महादेव तथा शिव नामोंका ही प्रयोग किया है। परंतु ऐसा नहीं है। भले ही यह नाम, यहाँपर, किसी व्यक्ति विशेषका पर्याय नाम हो, परंतु वह महादेव नामके रुद्र अथवा शिव नामके देवताका पर्याय नाम नहीं है। महादेव न तो समंतभद्रके समसामयिक व्यक्ति थे और न समंतभद्रका उनके साथ कभी कोई साक्षात्कार या वाद ही हुआ। ऐसी हालतमें यहाँ 'धूर्जटि'से महादेवका अर्थ निकालना भूलसे खाली नहीं है। वास्तवमें इस पद्यकी रचना केवल समन्तभद्रका महत्त्व ख्यापित करनेके लिये नहीं हुई बल्कि उसमें समंतभद्रके वादविषयकी एक खास घटनाका उल्लेख किया गया है और उससे दो ऐतिहासिक तत्त्वोंका पता चलता है—एक तो यह कि समंतभद्रके समयमें 'धूर्जटि' नामका कोई बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है, जो चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेमें प्रसिद्ध था; उसका यह विशेषण भी उसके तात्कालिक व्यक्तिविशेष होनेको और अधिकताके साथ सूचित करता है; दूसरे यह कि, समंतभद्रका उसके साथ वाद हुआ, जिसमें वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया और उसे फिर कुछ बोल नहीं आया।

पद्यका यह आशय उसके उस प्राचीन रूपसे और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाता है जो, शक सं० १०५० में उत्कीर्ण हुए, मल्लिषेण-

प्रशस्ति नामके ५४ वें ( ६७ वें ) शिलालेखमें पाया जाता है और वह रूप इस प्रकार है—

**अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा ।[1]**
**वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषां ॥**

इस पद्यमें 'धूर्जटि' के बाद 'अपि' शब्द ज्यादा है और चौथे चरणमें '**सति का कथान्येषां**' की जगह '**तव सदसि भूप कास्थान्येषां**' ये शब्द दिये हुए हैं। साथ ही इसका छंद भी दूसरा है। पहला पद्य 'आर्या' और यह 'आर्यागीति' नामके छंदमें है, जिसके समचरणोंमें बीस बीस मात्राएँ होती हैं। अस्तु; इस पद्यमें पहले पद्यसे जो शब्दभेद है उस परसे यह मालूम होता है कि यह पद्य समंतभद्रकी ओरसे अथवा, उनकी मौजूदगीमें, उनके किसी शिष्यकी तरफसे, किसी राजसभामें, राजाको सम्बोधन करके कहा गया है। वह राजसभा चाहे वही हो जिसमें 'धूर्जटि' को पराजित किया गया है और या वह कोई दूसरी ही राजसभा हो। पहली हालतमें यह पद्य धूर्जटिके निरुत्तर होनेके बाद सभास्थित दूसरे विद्वानोंको लक्ष्य करके कहा गया है और उसमें राजासे यह पूछा गया है कि धूर्जटि जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है? दूसरी हालतमें, यह पद्य समंतभद्रके वादारंभ समयका वचन मालूम होता है और उसमें धूर्जटिकी स्पष्ट तथा गुरुतर पराजयका उल्लेख करके दूसरे विद्वानोंको यह चेतावनी दी गई है कि

१ दावणगेरे ताल्लुकके शिलालेख नं० ९० में भी, जो चालुक्य विक्रमके ५३ वें वर्ष, कीलक संवत्सर ( ई० सन् ११२८ ) का लिखा हुआ है, यह पद्य इसी प्रकार दिया है। देखो एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ११ वीं।

वे बहुत सोच समझकर वादमें प्रवृत्त हों । शिलालेखमें इस पद्यको समन्तभद्रके वादारंभ-समारंभ समयकी उक्तियोंमें ही शामिल किया है * । परंतु यह पद्य चाहे जिस राजसभामें कहा गया हो, इसमें संदेह नहीं कि इसमें जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह बहुत ही महत्त्वकी जान पड़ती है। ऐसा मालूम होता है कि धूर्जटि† उस वक्त एक बहुत ही बढाचढ़ा प्रसिद्ध प्रतिवादी था, जनतामें उसकी बड़ी धाक थी और वह समंतभद्रके सामने बुरी तरहसे पराजित हुआ था। ऐसे महावादीको लीलामात्रमें परास्त कर देनेसे समन्तभद्रका सिक्का दूसरे विद्वानों पर और भी ज्यादा अंकित हो गया और तबसे यह एक कहावतसी प्रसिद्ध हो गई कि 'धूर्जटि जैसे विद्वान् ही जब समंतभद्रके सामने वादमें नहीं ठहर सकते तब दूसरे विद्वानोंकी क्या सामर्थ्य है जो उनसे वाद करें ।'

समन्तभद्रकी वादशक्ति कितनी अप्रतिहत थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, यह बात ऊपरके अवतरणोंसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है, फिर भी हम यहाँ पर इतना और बतला देना चाहते हैं कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुंदुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वादप्रीति, लोगोंके अज्ञान भावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभ भावना और जैन सिद्धा-

* जैसा कि उन उक्तियोंके पहले दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है—
" यस्यैवंविधा विद्यावादारंभसंरंभविजृंभिताभिव्यक्तयः सूक्तयः ।"

† आफरेक्टके 'केटेलॉग' में धूर्जटिको एक 'कवि' Poet लिखा है और कवि शब्द विद्वानको कहते हैं, जैसा कि इससे पहले फुटनोटमें दिये हुए पद्यके वाक्योंसे मालूम होगा ।

न्तोंके महत्त्वको विद्वानोंके हृदयपटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीलास्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिये निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें संतोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञान भावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों ( खड्डों ) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इस लिये, उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता लगता था वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका* बजाकर विद्वानों-को स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथानियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समंतभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आजाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था—यदि कभी

---

* उन दिनों समन्तभद्रके समयमें-फाहियान ( ई० स० ४०० ) और ह्वेनत्संग ( ई० स० ६३० ) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका ( भेरी या नक्कारा ) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें, अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था वह, वादघोषणाके तौरपर, उस डंकेको बजाता था।

—हिस्टरी आफ कनडीज़ लिटरेचर।

कोई मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था। इस तरह पर, समंतभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशोंमें, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंहकी तरह क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक वार आप घूमते हुए 'करहाटक' नगरमें भी पहुँचे थे, जिसे कुछ विद्वानोंने सतारा जिलेका आधुनिक 'कऱ्हाड या कराड' और कुछने दक्षिणमहाराष्ट्रदेशका 'कोल्हापुर' नगर बतलाया है, और जो उस समय बहुतसे भटों (वीर योद्धाओं) से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्पविस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजा पर अपने वादप्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय, एक पद्यमें, दिया था वह श्रवणबेल्गोलके उक्त ५४ वें शिलालेखमें निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता[3]
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

१ देखो, मिस्टर एडवर्ड पी० राइस बी० ए० रचित 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २३।

२ देखो, मिस्टर बी० लेविस राइसकी 'इंस्क्रिपशन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल' नामकी पुस्तक, पृ० ४२; परंतु इस पुस्तकके द्वितीय संशोधित संस्करणमें, जिसे आर० नरसिंहाचारने तैय्यार किया है, शुद्धिपत्रद्वारा 'कोल्हापुर' के स्थानमें 'कऱ्हाड' बनानेकी सूचना की गई है।

३ यह पद्य ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधनाकथाकोष' में भी पाया जाता है परंतु यह ग्रंथ शिलालेखसे कई सौ वर्ष पीछेका बना हुआ है।

इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह मालूम होता है कि 'करहाटक' पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलीपुत्र ( पटना ) नगर, मालव, ( मालवा ) सिन्धु तथा ठक्क ( पंजाब ) देश, कांचीपुर ( कांजीवरम् ), और वैदिशे ( भिलसा ) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर किसीने भी उनका विरोध नहीं

---

१ कनिंघम साहबने अपनी Ancient Geography (प्राचीन भूगोल) नामकी पुस्तक में 'ठक्क' देशका पंजाव देशके साथ समीकरण किया है ( S. I. J. 30 ); मिस्टर लेविस राइस साहबने भी अपनी श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंकी पुस्तकमें उसे पंजाब देश लिखा है । और 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' के लेखक मिस्टर ऐडवर्ड पी० राईस साहबने उसे In the Punjab लिखकर पंजावका एक देश बतलाया है। परंतु हमारे कितने ही जैन विद्वानोंने 'ठक्क' का 'ढक्क' पाठ बनाकर उसे बंगाल प्रदेशका 'ढाका' सूचित किया है, जो ठीक नहीं है । पंजाबमें, 'अटक' एक प्रदेश है । संभव है उसीकी वजहसे प्राचीन कालमें सारा पंजाव 'ठक्क' कहलाता हो, अथवा उस खास प्रदेशका ही नाम ठक्क हो जो सिंधुके पास है। पद्यमें भी 'सिंधु' के बाद एक ही समस्त पदमें ठक्कको दिया है इससे वह पंजाव देश या उसका अटकवाला प्रदेश ही मालूम होता है—बंगाल या ढाका नहीं। पंजाबके उस प्रदेशमें 'ठट्ठा' आदि और भी कितने ही नाम इसी किसम के पाये जाते हैं। प्राक्तनविमर्षविचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचार एम० ए० ने भी ठक्कको पंजाव देश ही लिखा है ।

२ विदिशाके प्रदेशको वैदिश कहते हैं जो दशार्ण देशकी राजधानी थी और जिसका वर्तमान नाम भिलसा है। राइस साहबने 'कांचीपुरे वैदिशे' का अर्थ to the out of the way Kanchi किया था जो गलत था और जिसका सुधार श्रवणबेलगोल शिलालेखोंके संशोधित संस्करणमें कर दिया गया है । इसी तरह पर आय्यंगर महाशयने जो उसका अर्थ in the far off city of Kanchi किया है वह भी ठीक नहीं है ।

किया था। साथ ही, यह भी माऌम होता है कि सबसे पहले जिस प्रधान नगरके मध्यमें आपने वादकी भेरी बजाई थी वह 'पाटलीपुत्र' नामका शहर था, जिसे आजकल 'पटना' कहते हैं और जो सम्राट् चंद्रगुप्त (मौर्य) की राजधानी रह चुका है।

'राजावलीकथे' नामकी कनडी ऐतिहासिक पुस्तकमें भी समंतभद्रका यह सब आत्मपरिचय दिया हुआ है—विशेषता सिर्फ इतनी ही है कि उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट' नामके देशका भी उल्लेख है, ऐसा मिस्टर लेविस राइस साहब अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। परंतु इससे यह माऌम न हो सका कि राजावली कथेका वह सब परिचय केवल कनडीमें ही दिया हुआ है या उसके लिये उक्त संस्कृत पद्यका भी, प्रमाण रूपसे उल्लेख किया गया है। यदि वह परिचय केवल कनडीमें ही है तब तो दूसरी बात है, और यदि उसके साथमें संस्कृत पद्य भी लगा हुआ है, जिसकी बहुत कुछ संभावना है, तो उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट'का समावेश नहीं बन सकता; वैसा किये जाने पर छंदोभंग हो जाता है और गलती साफ़ तौरसे माऌम होने लगती है। हाँ, यह हो सकता है कि पद्यका तीसरा चरण ही उसमें 'कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे संकटे' इस प्रकारसे दिया हुआ हो। यदि ऐसा है तो यह

१ हमारी इस कल्पनाके बाद, बाबू छोटेलालजी जैन, एम० आर० ए० एस० कलकत्ताने, 'कर्णाटक शब्दानुशासन'की लेविस राइस लिखित भूमिकाके आधार पर, एक अधूरासा नोट लिखकर हमारे पास भेजा है। उसमें समन्तभद्रके परिचयका डेढ पद्य दिया है, और उसे 'राजावलिकथे'का बतलाया है, जिसमेंसे एक पद्य तो 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' वाला है और बाकीका आधा पद्य इस प्रकार है—

कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे संकटे
वादार्थं विजहार संप्रतिदिनं शार्दूलविक्रीडितम्।

कहा जा सकता है कि वह उक्त पद्यका दूसरा रूप है जो करहाटकके बाद किसी दूसरी राजसभामें कहा गया होगा। परंतु वह दूसरी राजसभा कौनसी थी अथवा करहाटकके बाद समंतभद्रने और कहाँ कहाँ पर अपनी वादभेरी बजाई है, इन सब बातोंके जाननेका इस समय साधन नहीं है। हाँ, राजावलीकथे आदिसे इतना जरूर मालूम होता है कि समंतभद्र कौशाम्बी[1], मणुवकहल्ली, लाम्बुश (?), पुण्ड्रोड्र[2], दशपुर[3] और वाराणसी ( बनारस ) में भी कुछ कुछ समय तक रहे हैं। परंतु करहाटक पहुँचनेसे पहले रहे हैं या पीछे, यह कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका।

बनारसमें आपने वहाँके राजाको सम्बोधन करके यह वाक्य भी कहा था कि—

**' राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी[4]। '**

अर्थात्—हे राजन् मैं जैननिर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी भी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सन्मुख आकर वाद करे।

और इससे आपकी वहाँपर भी स्पष्ट रूपसे वादघोषणा पाई जाती है। परन्तु बनारसमें आपकी वादघोषणा ही होकर नहीं रह गई, बल्कि वाद भी हुआ जान पड़ता है जिसका उल्लेख तिरुमकूडलु-

---

१ अलाहाबादके निकट यमुना तट पर स्थित नगर; यहाँ एक समय बौद्ध धर्मका बड़ा प्रचार रहा है। यह वत्सदेशकी राजधानी थी।

२ उत्तर बंगालका पुण्ड्र नगर।

३ कुछ विद्वानोंने ' दशपुर'को आधुनिक ' मंदसौर ' ( मालवा ) और कुछने ' धौलपुर ' लिखा है; परंतु पम्परामायण ( ७-३५ ) में उसे 'उज्जयिनी' के पासका नगर बतलाया है और इसलिये वह ' मन्दसौर ' ही मालूम होता है।

४ यह ' कांच्यां नग्नाटकोहं ' पद्यका चौथा चरण है।

नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५ के निम्नपद्यसे, जो शक सं० ११०५ का लिखा हुआ है, पाया जाता है—

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥

इस पद्यमें लिखा है कि 'वे समन्तभद्र मुनीश्वर जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने शत्रुओंको—मिथ्यैकान्तवादियोंको—परास्त किया है किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं? अर्थात्, सभीके द्वारा स्तुति किये जानेके योग्य हैं।

समन्तभद्रने अपनी एक ही यात्रामें इन सब देशों तथा नगरोंमें परिभ्रमण किया है अथवा उन्हें उसके लिये अनेक यात्राएँ करनी पड़ी हैं, इस बातका यद्यपि, कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी अनुभवसे और आपके जीवनकी कुछ घटनाओंसे यह जरूर मालूम होता है कि आपको अपनी उद्देशसिद्धिके लिये एकसे अधिक बार यात्राके लिये उठना पड़ा है—'ठक्क' से कांची पहुँच जाना और फिर वापिस वैदिश तथा करहाटकको आना भी इसी बातको सूचित करता है। बनारस आप कांचीसे चलकर ही, दशपुर होते हुए, पहुँचे थे।

समन्तभद्रके सम्बंधमें यह भी एक उल्लेख मिलता है कि वे 'पद्र्द्धिक' थे—चारणे ऋद्धिसे युक्त थे—अर्थात् उन्हें तपके प्रभावसे चलनेकी

१ 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक'में भट्टाकलंकदेवने चारणर्द्धियुक्तोंका जो कुछ स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है—'क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति । तत्र चारणा अनेकविधाः जलजंघातंतुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालंबनगमनाः । जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायिकान् जीवानविराधयंतः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः । भुव उपर्याकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताशु गमनप्रवणा जंघाचारणाः । एवमितरे च वेदितव्याः ।' —अध्याय ३, सूत्र ३६ ।

ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी जिससे वे, दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैकड़ों कोस चले जाते थे। उस उल्लेखके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

....समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

....समंतभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ।

—जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय ।

....समंतभद्रस्वामिगळु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु....... ।

—राजावलीकथे ।

ऐसी हालतमें समन्तभद्रके लिये सुदूरदेशोंकी लम्बी यात्राएँ करना भी कुछ कठिन नहीं था। जान पड़ता है इसीसे वे भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें आसानीके साथ घूम सके हैं।

समंतभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आय्यंगर, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें लिखते हैं—

"...It is evident that he (Samantbhadra) was a great Jain missionary who tried to spread far and wide Jain doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went."

अर्थात्—यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहाँ कहीं वे गये हैं

उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा ।

'हिस्टरी आफ् कनडीज लिटरेचर' के लेखक—कनड़ी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले—मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहब समंतभद्रको एक तेजःपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे सारे भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले एक महान् प्रचारक थे। साथ ही, यह भी सूचित करते हैं कि उन्होंने वादभेरी बजानेके उस दस्तूरसे पूरा लाभ उठाया है, जिसका उल्लेख पीछे एक फुटनोटमें किया गया है, और वे बड़ी शक्तिके साथ जैनधर्मके 'स्याद्वाद-सिद्धान्त' को पुष्ट करनेमें समर्थ हुए हैं * ।

यहाँ तकके इस सब कथनसे स्वामी समंतभद्रके असाधारण गुणों, उनके प्रभाव और धर्मप्रचारके लिये उनके देशाटनका कितना ही हाल तो मालूम हो गया, परंतु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समंतभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसकी वजहसे वे

* He (Samantbhadra) was a brilliant disputant, and a great preacher of the Jain religion throughout India.........It was the custom in those days, alluded to by Fâ Hian (400) and Hiven Tsang (630) for a drum to be fixed in a public place in the city, and any learned man, wishing to propagate a doctrine or prove his erudition and skill in debate, would strike it by way of challenge of disputation....Samantbhadra made full use of this custom, and powerfully maintained the Jain doctrine of Syâdvâda.

हमेशा इस बातके लिये खुशकिस्मत × रहे हैं कि विद्वान् लोग उनकी वादघोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था।—वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे ख्वाहमख्वाह विरोधकी आग भड़कती है; लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मान नहीं देते; फिर भी समंतभद्रके साथमें ऐसा प्रायः कुछ भी न होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक हमने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है और हमें समंतभद्रके साहित्यादिपरसे उसका अनुभव हुआ है उसके आधारपर हमें इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि, समंतभद्रकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्त्वमें संनिहित है; अथवा यों कहिये कि यह सब अंतःकरण तथा चारित्रकी शुद्धिको लिये हुए, उनके वचनोंका ही माहात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं। समंतभद्रकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हितकामनाको ही लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखानेरूप कुत्सित

× मिस्टर आय्यंगरने भी आपको 'ever fortunate' 'सदा भाग्यशाली' लिखा है। S. in S. I. Jainism, 29.

भावनाकी गंध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्ग पर आरूढ थे और यह चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहचानें और उस पर चलना आरंभ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देख-कर बड़ा ही खेद* तथा कष्ट होता था और इस लिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिपर उद्योग किया करते थे। ऐसा माळूम होता है कि स्वात्महितसाधनके बाद दूसरोंका हितसाधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी ही योग्यताके साथ उसका संपादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे, न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शांति भंग होती थी; उनकी आँखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी; हमेशा हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे; बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्व पर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुरभाषण तो उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करनेवाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे, अपशब्दमदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात'

---

* आपके इस खेदादिको प्रकट करनेवाले तीन पद्य, नमूनेके तौर पर, इस प्रकार हैं—

मद्यांगवद्भूतसमागमेज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥ ३५ ॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषां ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा ! प्रपातः ॥ ३६ ॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषं ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत ! विभ्रमन्ति ॥ ३७ ॥

—युक्त्यनुशासन ।

तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समंतभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इस लिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समंतभद्र स्वयं परीक्षाप्रधानी थे, वे कदाग्रहको बिलकुल पसंद नहीं करते थे, उन्होंने भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपसे स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, विना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ युक्तियोंद्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुणदोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये। ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढ़नेका कभी यत्न नहीं करते थे। वे विद्वानोंको, निष्पक्ष दृष्टिसे, स्व-पर सिद्धान्तों पर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थ ज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अंग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अंगको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना एकान्त है; और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध

क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वादन्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामंजस्य वैठ जाता है * । उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था; वे एक मार्ग भूले हुएको मार्ग दिखानेकी तरह, प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका वोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था । यही वजह थी और यही सब मोहन मंत्र था, जिससे समंतभद्रको दूसरे संप्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई ।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि समंतभद्र स्याद्वादविद्याके अद्वितीय अधिपति थे; वे दूसरोंको स्याद्वाद

---

* इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समंतभद्रका ' आप्तमीमांसा ' नामक ग्रंथ देखना चाहिये, जिसे ' देवागम ' भी कहते हैं । यहाँपर अद्वैत एकांतपक्षमें दोषोद्भावन करनेवाले आपके कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, नीचे दिये जाते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किं ॥ २६ ॥
अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

मार्गपर चलनेका उपदेश ही न देते थे बल्कि उन्होंने स्वयं अपने जीवनको स्याद्वादके रंगमें पूरी तौरसे रंग लिया था और वे उस मार्गके सच्चे तथा पूरे अनुयायी थे * । उनकी प्रत्येक बात अथवा क्रियासे अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका ही साम्राज्य रहता था। उन्होंने स्याद्वादका जो विस्तृत वितान या शामियाना ताना था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग अपने अज्ञान तापको मिटाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे । वास्तवमें समन्तभद्रके द्वारा स्याद्वाद विद्याका बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है । उन्होंने स्याद्वादन्यायको जो विशद और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे पहलेके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाया जाता । इस विषयमें, आपका 'आप्तमीमांसा' नामका ग्रंथ, जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं, एक खास तथा अपूर्व ग्रंथ है । जैनसाहित्यमें उसकी जोड़का दूसरा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता । ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले जैनधर्मकी स्याद्वाद-विद्या बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी, जनता उससे प्रायः अनभिज्ञ थी और इससे उसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था । समंतभद्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विद्याको पुनरुज्जीवित किया और उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है । इसीसे विद्वान् लोग

* भट्टाकलंकदेवने भी समंतभद्रको स्याद्वाद मार्गके परिपालन करनेवाले लिखा है । साथ ही 'भव्यैकलोकनयन' (भव्यजीवोंके लिये अद्वितीय नेत्र) यह उनका अथवा स्याद्वादमार्गका विशेषण दिया है—

श्रीवर्द्धमानमकलंकमनिंद्यवंद्यपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥

—अष्टशती ।

श्रीविद्यानंदाचार्यने भी, युक्त्यनुशासनकी टीकाके अन्तमें 'स्याद्वादमार्गानुगैः' विशेषणके द्वारा आपको स्याद्वाद मार्गका अनुगामी लिखा है ।

मार्गपर चलनेका उपदेश ही न देते थे बल्कि उन्होंने स्वयं अपने जीवनको स्याद्वादके रंगमें पूरी तौरसे रंग लिया था और वे उस मार्गके सच्चे तथा पूरे अनुयायी थे * । उनकी प्रत्येक बात अथवा क्रियासे अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका ही साम्राज्य रहता था। उन्होंने स्याद्वादका जो विस्तृत वितान या शामियाना ताना था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग अपने अज्ञान तापको मिटाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे । वास्तवमें समन्तभद्रके द्वारा स्याद्वाद विद्याका बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है । उन्होंने स्याद्वादन्यायको जो विशद और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे पहलेके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाया जाता । इस विषयमें, आपका 'आप्तमीमांसा' नामका ग्रंथ, जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं, एक खास तथा अपूर्व ग्रंथ है । जैनसाहित्यमें उसकी जोड़का दूसरा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता । ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले जैनधर्मकी स्याद्वाद-विद्या बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी, जनता उससे प्रायः अनभिज्ञ थी और इससे उसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था । समंतभद्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विद्याको पुनरुज्जीवित किया और उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है । इसीसे विद्वान् लोग

---

* भट्टाकलंकदेवने भी समंतभद्रको स्याद्वाद मार्गके परिपालन करनेवाले लिखा है । साथ ही 'भव्यैकलोकनयन' ( भव्यजीवोंके लिये अद्वितीय नेत्र ) यह उनका अथवा स्याद्वादमार्गका विशेषण दिया है—

श्रीवर्द्धमानमकलंकमनिंद्यवंद्यपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥

—अष्टशती ।

श्रीविद्यानंदाचार्यने भी, युक्त्यनुशासनकी टीकाके अन्तमें 'स्याद्वादमार्गानुगैः' विशेषणके द्वारा आपको स्याद्वाद मार्गका अनुगामी लिखा है ।

आपको 'स्याद्वादविद्याग्रगुरु,'[1] 'स्याद्वादविद्याधिपति' 'स्याद्वादशरीर'[2] और 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'[3] जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण करते आए हैं। परन्तु इसे भी रहने दीजिये, आठवीं शताब्दीके तार्किक विद्वान्, भट्टाकलंक-देव जैसे महान्[4] आचार्य लिखते हैं कि 'आचार्य समन्तभद्रने संपूर्ण-पदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्य जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्राभावित किया है—अर्थात्, उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है। यथा—

> तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे-
> र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
> येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं
> कृत्वा विवियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥

यह पद्य भट्टाकलंककी 'अष्टशती' नामक वृत्तिके मंगलाचरणका द्वितीय पद्य है, जिसे भट्टाकलंकने, समन्तभद्राचार्यके 'देवागम' नामक भगवत्स्तोत्रकी वृत्ति (भाष्य) लिखनेका प्रारंभ करते हुए, उनकी स्तुति और वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा रूपसे दिया है। इसमें समं-तभद्र और उनके वाङ्मयका जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है। समंतभद्रने स्याद्वादतीर्थको कलिकालमें प्रभावित

---

१ लघुसमंतभद्रकृत 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका'।

२ वसुनंद्याचार्यकृत देवागमवृत्ति। ३ श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री।

४ नगर ताल्लुका (जि० शिमोगा) के ४६ वें शिलालेखमें, समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य लिखनेवाले अकलंक-देवको 'महर्द्धिक' लिखा है। यथा—

> जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
> स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः ॥

किया, इस परिचयके 'कलिकालमें' (काले कलौ) शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं और उनसे दो अर्थोंकी ध्वनि निकलती है—एक तो यह कि, कलिकालमें स्याद्वादतीर्थको प्रभावित करना बहुत कठिन कार्य था, समंतभद्रने उसे पूरा करके निःसन्देह एक ऐसा कठिन कार्य किया है जो दूसरोंसे प्रायः नहीं हो सकता था अथवा नहीं हो सका था; और दूसरा यह कि, कलिकालमें समंतभद्रसे पहले उक्त तीर्थकी प्रभावना—महिमा या तो हुई नहीं थी, या वह होकर लुप्तप्राय हो चुकी थी और या वह कभी उतनी और उतने महत्त्वकी नहीं हुई थी जितनी और जितने महत्त्वकी समंतभद्रके द्वारा उनके समयमें, हो सकी है। पहले अर्थमें किसीको प्रायः कुछ भी विवाद नहीं हो सकता—कलिकालमें जब कलुषाशयकी वृद्धि हो जाती है तब उसके कारण अच्छे कामोंका प्रचलित होना कठिन हो ही जाता है—स्वयं समंतभद्राचार्यने, यह सूचित करते हुए कि महावीर भगवानके अनेकान्तात्मक शासनमें एकाधिपतित्वरूपी लक्ष्मी-का स्वामी होनेकी शक्ति है, कलिकालको भी उस शक्तिके अपवादका—एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकनेका—एक कारण माना है। यद्यपि, कलिकाल उसमें एक साधारण बाह्य कारण है, असाधारण कारणमें उन्होंने श्रोताओंका कलुषित आशय (दर्शनमोहाक्रान्त चित्त) और प्रवक्ता (आचार्य) का वचनानय (वचनका अप्रशस्त निरपेक्ष नयके,

---

१ 'एकाधिपतित्वं सर्वैरवश्याश्रयणीयत्वम्'—इति विद्यानंदः। सभी जिसका अवश्य आश्रय ग्रहण करें, ऐसे एक स्वामीपनेको एकाधिपतित्व या एकाधिपत्य कहते हैं।

२ 'अपवादहेतुर्बाह्यः साधारणः कलिरेव कालः,'—इति विद्यानंदः।

३ जो नय परस्पर अपेक्षारहित हैं वे मिथ्या हैं और जो अपेक्षासहित हैं वे सम्यक् अथवा वस्तुसार कहलाते हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—
'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' —देवागम।

साथ व्यवहार) ही स्वीकार किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कलिकालमें उस शासनप्रचारके कार्यमें कुछ बाधा डालनेवाला—उसकी सिद्धिको कठिन और जटिल बना देनेवाला—जरूर है । यथा—

**कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।**
**त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥**

—युक्त्यनुशासन ।

स्वामी समंतभद्र एक महान् वक्ता थे, वे वचनानयके दोषसे बिलकुल रहित थे, उनके वचन—जैसा कि पहले जाहिर किया गया है—स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे; विकार हेतुओंके समुपस्थित होने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था—उन्हें क्षोभ या क्रोध नहीं आता था—और इस लिये उनके वचन कभी मार्गका उल्लंघन नहीं करते थे । उन्होंने अपनी आत्मिक शुद्धि, अपने चारित्रबल और अपने स्तुत्य वचनोंके प्रभावसे श्रोताओंके कलुषित आशय पर भी बहुत कुछ विजय प्राप्त कर लिया था—उसे कितने ही अंशोंमें बदल दिया था । यही वजह है कि आप स्याद्वादशासनको प्रतिष्ठित करनेमें बहुत कुछ सफल हो सके और कलिकाल उसमें कोई विशेष बाधा नहीं डाल सका । वसुनन्दि सैद्धान्तिकने तो, आपके मतकी—शासनकी—वंदना और स्तुति करते हुए, यहाँ तक लिखा है कि उस शासनने कालदोषको ही नष्ट कर दिया था—अर्थात् समंतभद्र मुनिके शासनकालमें यह मालूम नहीं होता था कि आज कल कलिकाल बीत रहा है । यथा—

**लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं**
**कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरं ।**

सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलैः संशोममानं परं
वन्दे तद्धतकालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम् ॥२॥

—देवागमवृत्ति ।

इस पद्यमें समन्तभद्रके 'मत'को, लक्ष्मीभृत्, परम, निर्वाणसौख्य-प्रद, हतकालदोष और अमल आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते हुए, जो देदीप्यमान छत्रकी उपमा दी गई है वह बड़ी ही हृदय-ग्राहिणी है, और उससे मालूम होता है कि समंतभद्रका शासनछत्र सम्यग्ज्ञानों, सुनयों तथा सुयुक्तियों रूपी मुक्ताफलोंसे संशोभित है और वह उसे धारण करनेवालेके कुज्ञानरूपी आतापको मिटा देनेवाला है। इस सब कथनसे स्पष्ट है कि समंतभद्रका स्याद्वादशासन बड़ा ही प्रभाव-शाली था। उसके तेजके सामने अवश्य ही कलिकालका तेज मंद पड़ गया था, और इसलिये कलिकालमें स्याद्वाद तीर्थको प्रभावित करना, यह समंतभद्रका ही एक खास काम था।

दूसरे अर्थके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मान लेना ज्यादा अच्छा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले स्याद्वादतीर्थकी महिमा लुप्तप्राय हो गई थी, समंतभद्रने उसे पुनः संजीवित किया है, और उसमें असाधारण बल तथा शक्तिका संचार किया है। श्रवणबेलगोलके निम्न शिलावाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि मुनिसंघके नायक आचार्य समंतभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वादमार्ग) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—अर्थात् उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है—

" आचार्यस्य समंतभद्रगणभृद्येनेहकाले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः "॥

—५४ वाँ शिलालेख ।

तभद्रकी वचनप्रवृत्ति, परिणति और स्याद्वादविद्याको पुनरुज्जीवित करने आदिके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा गया है अथवा अनुमान किया गया है वह सब प्रायः ठीक ही है।

**नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था—**
**दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यं ।**
**स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचःस्वामिनोदः,**
**प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादं ॥**

—अष्टसहस्री ।

इस पद्यमें, विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दीके दिग्गज तार्किक विद्वान्, **श्रीविद्यानंद** आचार्य, स्वामी समंतभद्रके वचनसमूहका जय-घोष करते हुए, लिखते हैं कि स्वामीजीके वचन नित्यादि एकान्त गर्तोंमें पड़े हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर उस उच्च पदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ हैं जो उत्कृष्ट मंगलात्मक तथा निर्दोष है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रथित करनेवाले हैं, सत्यार्थ हैं, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुए हैं अथवा प्रेक्षावान्—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा

---

१ वस्तु सर्वथा नित्य ही है, कूटस्थवत् एक रूपतासे रहती है—इस प्रकारकी मान्यताको 'नित्यैकान्त' कहते हैं और उसे सर्वथा क्षणिक मानना—क्षणक्षणमें उसका निरन्वयविनाश स्वीकार करना—'क्षणिकैकान्त' वाद कहलाता है। 'देवागम' में इन दोनों एकान्तवादोंकी स्थिति और उससे होनेवाले अनर्थोंको बहुत कुछ स्पष्ट करके बतलाया गया है।

२ यह स्वामी समन्तभद्रका विशेषण है। युक्त्यनुशासनकी टीकाके निम्न पद्यमें भी श्रीविद्यानंदाचार्यने आपको 'परीक्षेक्षण' ( परीक्षादृष्टि ) विशेषणके साथ स्मरण किया है और इस तरह पर आपकी परीक्षाप्रधानताको सूचित किया है—

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै—
र्विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥

उनकी प्रवृत्ति हुई है, और उन्होंने संपूर्ण मिथ्या प्रवादको विघटित—तितर बितर—कर दिया है।

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-
द्विद्यानंदोदयायानवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा॥

—अष्टसहस्री।

इस पद्यमें वे ही विद्यानंद आचार्य यह सूचित करते हैं कि समन्तभद्रकी वाणी उन उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है जो बड़े बड़े बुद्धिमानों द्वारा प्रपूज्य* है; वह अपने तेजसे सूर्यकी किरणको जीतनेवाली सप्तभंगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है, निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव—अभाव आदिके एकान्त पक्षरूपी हृदयांधकारको दूर करनेवाली है। साथ ही, अपने पाठकोंको यह आशीर्वाद देते हैं कि वह वाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और आनन्द (अनंतसुख) के उदयके लिये निरंतर कारणीभूत होवे और उसके प्रसादसे तुम्हारे संपूर्ण क्लेश नाशको प्राप्त हो जायँ। यहाँ 'विद्यानन्दोदयाय' पदसे एक दूसरा अर्थ भी निकलता है और उससे यह सूचित होता है कि समंतभद्रकी वाणी विद्यानंदाचार्यके उदयका कारण हुई है+ और इसलिये उसके द्वारा उन्होंने अपने और उदयकी भी भावना की है।

* अथवा समन्तभद्रकी भारती बड़े बड़े बुद्धिमानों (प्रज्ञाधीशों) के द्वारा प्रपूजित है और उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है।

+ नागराज कविने, समन्तभद्रकी भारतीका स्तवन करते हुए जो 'पात्रके-

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलंघ्यवीर्याः
स्यात्कारामोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसध्यानधीराः ।
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मंडलं जैनमग्र्यं
वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥
अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी
प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ।
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः ॥

अष्टसहस्रीके इन पद्योंमें भी श्रीविद्यानंद जैसे महान् आचार्योंने, जिन्होंने अष्टसहस्रीके अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्लोकवार्तिक, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और जिनैकगुणसंस्तुति आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है, निर्मलमति श्रीसमंतभद्र मुनिराजकी वाणीका अनेक प्रकारसे गुणगान किया है और उसे अलंध्यवीर्य, स्यात्काररूपी अमोघमंत्रका प्रणयन करनेवाली, शुद्ध सद्ध्यानधीरा[1], उद्भूतमुद्रा[2], (ऊँचे आनंदको देनेवाली) एकान्तरूपी प्रबल गरल विषके उद्रेकको दलनेवाली और निरन्तर अनेकान्तरूपी अमृत रसके सिंचनसे प्रवृद्ध तथा प्रमाण नयोंके अधीन प्रवृत्त हुई लिखा है। साथ ही वह वाणी नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे और सब

---

सन्निभावसिद्धिकारिणीं स्तुवे,' यह वाक्य कहा है उससे भी इसका समर्थन होता है; क्योंकि पात्रकेसरी विद्यानन्दका नामान्तर है। समन्तभद्रके देवागम स्तोत्रसे पात्रकेसरीकी जीवनधारा ही पलट गई थी और वे बड़े प्रभावशाली विद्वान् हुए हैं।

१ 'ध्यानं परीक्षा तेन धीराः स्थिराः' इति टिप्पणकारः ।
२ 'उद्भूतां मुदं रान्ति ददातीति (उद्भूतमुद्राः)' इति टिप्पणकारः ।

ओरसे मंगल तथा कल्याणको प्रदान करनेवाली होवे, इस प्रकारके आशीर्वाद भी दिये हैं।

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिहनियतः सर्वथाकारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शांततामाश्रयन्ति।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलंकोरुकीर्तिः॥

अष्टसहस्रीके इस पद्यमें लिखा है कि 'वे स्वामी (समंतभद्र) सदा जयवंत रहें जो बहुत प्रसिद्ध मुनिराज हैं, जिनकी कीर्ति निर्दोष तथा विशाल है और जिनके नयप्रमाणमूलक अलंघ्य उपदेशसे वे महा-उद्धतमति एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वे कारण कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं।

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यकलंकनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानंदघनप्रदोऽनवधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः॥

अष्टसहस्रीके इस अन्तिम मंगल पद्यमें श्रीविद्यानंद आचार्यने, संक्षेपमें, समंतभद्रविषयक अपने जो उद्गार प्रकट किये हैं

---

१ अष्टसहस्रीके प्रारंभमें जो मंगल पद्य दिया है उसमें समंतभद्रको 'श्रीवर्द्धमान,' 'उद्भूतबोधमहिमान्' और 'अनिंद्यवाक्' विशेषणोंके साथ अभिवंदन किया है। यथा—

श्रीवर्द्धमानमभिवंद्य समंतभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिंद्यवाचम्।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य॥

वे बड़े ही महत्त्वके हैं। आप लिखते हैं कि 'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये संपूर्ण कुनीति-वृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है और जिनके वचन निर्दोष नीति ( स्याद्वादन्याय ) को लिये हुए होनेकी वजहसे मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी, विभु और भानुमान् ( सूर्य ) श्रीसमन्तभद्र स्वामी कलुषाशयरहित प्राणियोंको विद्या और आनंदघनके प्रदान करनेवाले होवें।' इससे स्वामी समंतभद्र और उनके वचनोंका बहुत ही अच्छा महत्त्व ख्यापित होता है।

**गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कंठविभूषणीकृता ।**
**न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥**

—चन्द्रप्रभचरित ।

इस पद्यमें महाकवि श्रीवीरनंदी आचार्य, समंतभद्रकी भारती ( वाणी ) को उस हारयष्टि ( मोतियोंकी माला ) के समकक्ष रखते हुए जो गुणों ( सूतके धागों ) से गूँथी हुई है, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त है और उत्तम पुरुषोंके कंठका विभूषण बनी हुई है, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्रकी वाणी अनेक सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त[1]रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उसे अपने कंठका भूषण बनाया है। साथ ही, यह भी बतलाते हैं कि उस हारयष्टिको प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समंतभद्रकी भारतीको पा लेना—उसे समझकर हृदयंगम कर लेना—है। और इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि समंतभद्रके वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।

---

१ वृत्तान्त, चरित, आचार, विधान अथवा छंद।

**श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य** भी, अपने 'सिद्धान्तसारसंग्रह' में ऐसा ही भाव प्रकट करते हैं। आप समंतभद्रके वचनको 'अनघ' (निष्पाप) सूचित करते हुए उसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी तरह दुर्लभ बतलाते हैं। यथा—

श्रीमत्समंतभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघं ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुपत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

शक संवत् ७०५ में 'हरिवंशपुराण' को बनाकर समाप्त करनेवाले **श्रीजिनसेनाचार्यने** समंतभद्रके वचनोंको किस कोटिमें रक्खा है और उन्हें किस महापुरुषके वचनोंकी उपमा दी है, यह सब उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ॥ ३० ॥

इस पद्यमें जीवसिद्धिका विधान करनेवाले और युक्तियोंद्वारा अथवा युक्तियोंका अनुशासन करनेवाले समंतभद्रके वचनोंकी बावत यह कहा गया है कि वे वीर भगवानके वचनोंकी तरह प्रकाशमान हैं, अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर भगवानके वचनोंके समकक्ष हैं और प्रभावादिकमें भी उन्हींके तुल्य हैं। जिनसेनाचार्यका यह कथन समंतभद्रके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो ग्रंथोंके उल्लेखको लिये हुए है, और इससे उन ग्रंथों (प्रवचनों) का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

प्रमाणनयनिर्णीतवस्तुतत्त्वमबाधितं ।
जीयात्समंतभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

—युक्त्यनुशासनटीका ।

इस पद्यमें भी विद्यानंदाचार्य, समंतभद्रके 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रका जयघोष करते हुए, उसे 'अबाधित' विशेषण देते हैं और साथ ही यह सूचित करते हैं कि उसमें प्रमाण-नयके द्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय किया गया है ।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरंडकः ॥

—पार्श्वनाथचरित ।

इन पद्योंमें, 'पार्श्वनाथचरित'को शक सं० ९४७ में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीवादिराजसूरि, समंतभद्रके 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' नामके दो प्रवचनों (ग्रंथों) का उल्लेख करते हुए, लिखते हैं कि 'उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयावह (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने

१ माणिकचंद्रग्रंथमालामें प्रकाशित 'पार्श्वनाथचरित' में इन दोनों पद्योंके मध्यमें नीचे लिखा एक पद्य और भी दिया है; परंतु हमारी रायमें वह पद्य इन दोनों पद्योंके बादका मालूम होता है—उसका 'देवः' पद 'देवनन्दी' (पूज्यपाद)का वाचक है । ग्रंथमें देवनन्दिके सम्बन्धका कोई दूसरा पद्य वहाँ है भी नहीं, जिसके होनेकी; अन्यथा, बहुत संभावना थी । यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराजने समंतभद्रको अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा वंदनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादन किया है । साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किया है—

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥

'देवागम' के द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। निश्चयसे वे ही योगीन्द्र (समंतभद्र) त्यागी (दाता) हुए हैं जिन्होंने भव्यसमूहरूपी याचकको अक्षय सुखका कारण रत्नोंका पिटारा (रत्नकरंडक) दान किया है'।

समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः ।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः ॥

—पाण्डवपुराण ।

इस पद्यमें श्रीशुभचन्द्राचार्य लिखते हैं कि "जिन्होंने 'देवागम' नामक अपने प्रवचनके द्वारा देवागमको—जिनेन्द्रदेवके आगमको—इस लोकमें व्यक्त कर दिया है वे 'भारतभूषण' और 'एक मात्र भद्रप्रयोजनके धारक' श्री समंतभद्र लोकमें प्रकाशमान होवें, अर्थात् अपनी विद्या और गुणोंके द्वारा लोगोंके हृदयांधकारको दूर करनेमें समर्थ होवें।"

. समन्तभद्रकी भारतीका एक स्तोत्र, हालमें, हमें दक्षिण देशसे प्राप्त हुआ है। यह स्तोत्र कवि नागराजका बनाया हुआ और अभीतक प्रायः अप्रकाशित ही जान पड़ता है। यहाँपर हम उसे भी अपने पाठकोंकी अनुभववृद्धिके लिये दे देना उचित समझते हैं। यह स्तोत्र इस प्रकार है—

१ इसकी प्राप्तिके लिये हम उन पं० शांतिराजजीके आभारी हैं जो कुछ अर्सेतक 'जैनसिद्धान्तभवन आरा'के अध्यक्ष रह चुके हैं।

२ 'नागराज' नामके एक कवि शक संवत् १२५३ में हो गये हैं, ऐसा 'कर्णाटककविचरित' से मालूम होता है। बहुत संभव है कि यह स्तोत्र उन्हींका बनाया हुआ हो; वे 'उभयकवितावितिलास' उपाधिसे भी युक्त थे। उन्होंने उक्त सं० में अपना 'पुण्यास्रवचम्पू' बना कर समाप्त किया है।

संस्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीं,
तंतनीमि पंपठीमि बंभणीमि तेमितां ।
देवराजनागराजमर्त्यराजपूजितां
श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचरां ॥ १ ॥

मातृ-मान-मेयसिद्धिवस्तुगोचरां स्तुवे,
सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचरां ।
मोक्षमार्ग-तद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
माप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीं ॥ २ ॥

सूरिसूक्तिवंदितामुपेयतत्त्वभाषिणीं,
चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीं ।
पूर्वपक्षखंडनप्रचण्डवाग्विलासिनीं
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीं ॥ ३ ॥

पात्रकेसरिप्रभावसिद्धिकारिणीं स्तुवे,
भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ।
गृध्रपिच्छभाषितप्रकृष्टमंगलार्थिकां
सिद्धि-सौख्यसाधनीं समन्तभद्रभारतीं ॥ ४ ॥

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां,
वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्विलासिनीं ।
यौगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे
क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीं ॥ ५ ॥

मान-नीति-वाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचरां
मानितप्रभावसिद्धसिद्धिसिद्धसाधनीं ।

घोरभूरिदुःखवार्धितारणाक्षमामिमां
चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

सान्तनाद्यनाद्यनन्तमध्ययुक्तमध्यमां
शून्यभावसर्ववेदि-तत्त्वसिद्धिसाधनीं ।
हेत्वहेतुवादसिद्धवाक्यजालभासुरां
मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचरां
पापहारि-वाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ।
श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीं
नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥

इस 'समन्तभद्रभारतीस्तोत्र' में, स्तुतिके साथ, समन्तभद्रके वादों, भाषणों और ग्रंथोंके विषयका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही, यह सूचित किया गया है कि समन्तभद्रकी भारती आचार्योंकी सूक्तियोंद्वारा वंदित, मनोहर कीर्तिसे देदीप्यमान और क्षीरोदधिकी समान उज्ज्वल तथा गंभीर है; पापोंको हरना, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्रको दूर करना ही उस वाग्देवीका एक आभूषण और वाग्विलास ही उसका एक वस्त्र है; वह घोर दुःखसागरसे पार करनेके लिये समर्थ है, सर्व सुखोंको देनेवाली है और जगतके लिये हितरूप है।

यह हम पहले ही प्रकट कर चुके हैं कि समंतभद्रकी जो कुछ वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंके हितके लिये ही होती थी; यहाँ भी इस स्तोत्रसे यही बात पाई जाती है, और ऊपर दिये हुए दूसरे कितने ही आचार्योंके वाक्योंसे भी उसका पोषण तथा

स्पष्टीकरण होता है । अस्तु, इस विषयका यदि और भी अच्छा अनुभव प्राप्त करना हो तो उसके लिये स्वयं समंतभद्रके ग्रंथोंको देखना चाहिये । उनके विचारपूर्वक अध्ययनसे वह अनुभव स्वतः हो जायगा। समन्तभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य ही पापोंको दूर करके—कुदृष्टि, कुबुद्धि, कुनीति और कुवृत्तिको हटाकर—जगतका हित साधन करना है । समंतभद्रने अपने इस उद्देश्यको कितने ही ग्रंथोंमें व्यक्त भी किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

**इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां ।**
**सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥**

यह ‘ आप्तमीमांसा ’ ग्रंथका पद्य है । इसमें, ग्रंथनिर्माणका उद्देश्य प्रकट करते हुए, बतलाया गया है कि यह ‘ आप्तमीमांसा ’ उन लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषका ज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है जो अपना हित चाहते हैं । ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें ‘ हितमिच्छतां ’ की जगह ‘ हितमिच्छता ’ पाठ भी पाया जाता है । यदि यह पाठ ठीक हो तो वह ग्रंथरचयिता समंतभद्रका विशेषण है और उससे यह अर्थ निकलता है कि यह आप्तमीमांसा हित चाहनेवाले समंतभद्रके द्वारा निर्मित हुई है; बाकी निर्माणका उद्देश्य ज्योंका त्यों कायम ही रहता है—दोनों ही हालतोंमें यह स्पष्ट है कि यह ग्रंथ दूसरोंका हित सम्पादन करने—उन्हें हेयादेयका विशेष बोध करानेके लिये ही लिखा गया है ।

**न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ**
**न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।**
**किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।**
**हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥**

यह 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तोत्रका, अन्तिम पद्यसे पहला, पद्य है। इसमें आचार्य-महोदयने बड़े ही महत्त्वका भाव प्रदर्शित किया है। आप श्रीवर्द्धमान (महावीर) भगवान्‌को सम्बोधन करके उनके प्रति अपनी इस स्तोत्र रचनाका जो भाव प्रकट करते हैं उसका स्पष्टा-शय[1] इस प्रकार है—

'हे भगवन्, हमारा यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावसे नहीं है; न हो सकता है, क्योंकि इधर तो हम परीक्षाप्रधानी हैं और उधर आपने भवपाशको छेद दिया है—संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है—ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा रागभाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बंध नहीं है; क्योंकि एकान्त-वादियोंके साथ उनके व्यक्तित्वके प्रति—हमारा कोई द्वेष नहीं है। हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको भी खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इस लिये दूसरोंके प्रति कोई द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश? उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ, कहा गया है। इसके सिवाय, जिस भवपाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी।

१ इस स्पष्टाशयके लिखनेमें श्रीविद्यानंदाचार्यकी टीकासे कितनी ही सहायता ली गई है।

इष्ट है और इस लिये वह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उपपत्तिका एक हेतु है ।'

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका प्रणयन—उनके वचनोंका अवतार—किसी तुच्छ रागद्वेषके वशवर्ती होकर नहीं हुआ है। वह आचार्य महोदयकी उदारता तथा प्रेक्षापूर्वकारिताको लिये हुए है और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनों ही बातें पाई जाती हैं । साथ ही, यह भी प्रकट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य महान् है, लोक-हितको लिये हुए है, और उनका प्रायः कोई भी विशेष कथन गुण-दोषोंकी अच्छी जाँचके बिना निर्दिष्ट हुआ नहीं जान पड़ता ।

यहाँ तकके इस सब कथनसे ऐसा माळूम होता है कि समंतभद्र अपने इन सब गुणोंके कारण ही लोकमें अत्यंत महनीय तथा पूजनीय थे और उन्होंने देश-देशान्तरोंमें अपनी अनन्यसाधारण कीर्तिको प्रतिष्ठित किया था । निःसन्देह, वे सद्बोधरूप थे, श्रेष्ठगुणोंके आवास थे, निर्दोष थे और उनकी यशःकान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों विभाग कान्तिमान थे;—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था; जैसा कि कवि नरसिंह भट्टके निम्न वाक्यसे पाया जाता है—

**समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं ।**
**निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयं ॥ २ ॥**

—जिनशतकटीका ।

अपने इन सब पूज्य गुणोंकी वजहसे ही समंतभद्र लोकमें 'स्वामी' पदसे खास तौर पर विभूषित थे । लोग उन्हें 'स्वामी' 'स्वामीजी' कह कर ही पुकारते थे, और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने भी

उन्हें प्रायः इसी विशेषणके साथ स्मरण किया है । यद्यपि और भी कितने ही आचार्य ' स्वामी ' कहलाते थे परंतु उनके साथ यह विशेषण उतना रूढ नहीं है जितना कि समंतभद्रके साथ रूढ जान पड़ता है——समंतभद्रके नामका तो यह प्रायः एक अंग ही हो गया है । इसीसे कितने ही महान् आचार्यों तथा विद्वानोंने, अनेक स्थानों पर नाम न देकर, केवल ' स्वामी ' पदके प्रयोग द्वारा ही आपका नामोल्लेख किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि आचार्य महोदयकी ' स्वामी ' रूपसे कितनी अधिक प्रसिद्धि थी । निःसंदेह, यह पद आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है । आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, ऋषिमुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोकहितैषियोंके स्वामी थे ।

---

* देखो—वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितका ' स्वामिनश्चरितं ' नामका पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है; पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीकाओंके ' स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामिमतेन त्विमे ( अतिचाराः), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद; न्यायदीपिकाका ' तदुक्तं स्वामिभिरेव ' इस वाक्यके साथ ' देवागम ' की दो कारिकाओंका अवतरण; और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य जिनमेंसे ' नित्याद्येकान्त ' आदि कुछ पद्य ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं ।

# भावी तीर्थकरत्व ।

——:०:——

समंतभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्हें रात दिन उसीके संपादनकी एक धुन रहती थी; उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सब उसी ओर लगा हुआ था; वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें ‘विश्वप्रेम’ जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे। वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योग-परिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, निःसीम तथा सर्वातिशायि[1] पुण्यको संचित किया मालूम होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें ‘तीर्थंकर’ होनेवाले हैं—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले हैं। आपके ‘भावी तीर्थंकर’ होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥

—जिनेंद्रकल्याणाभ्युदय ।

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनिभविष्यत्तीर्थंकर परमदेवेन—‘कालेकल्पशतेऽपिच’ (इत्यादि ‘रत्नकरंडक’का पूरा पद्य दिया है।)

—श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका ।

---

1 सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् । —श्लोकवार्तिक ।

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनां ।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी ॥

—नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोश ।

आ भावि तीर्थकरन् अप्प समंतभद्रस्वामिगलु……..

—राजावलिकथे ।

अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्कि चउकं च एय बलभद्दो ।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण * ॥

श्रीवर्द्धमान महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद सैंकड़ों ही अच्छे अच्छे महात्मा आचार्य तथा मुनिराज यहाँ हो गये हैं परंतु उनमेंसे दूसरे किसी भी आचार्य तथा मुनिराजके विषयमें यह उल्लेख नहीं मिलता कि वे आगेको इस देशमें 'तीर्थंकर' होंगे । भारतमें 'भावी तीर्थंकर' होनेका यह सौभाग्य, शलाका पुरुषों तथा श्रेणिक राजाके साथ, एक समंतभद्रको ही प्राप्त है और इससे समंतभद्रके इतिहासका—उनके चरित्रका—गौरव और भी बढ़ जाता है । साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि आप १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनति-

---

१ इस गाथामें लिखा है कि—आठ नारायण, नौ प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र, श्रेणिक और समन्तभद्र ये ( २४ पुरुष आगेको ) नियमसे तीर्थंकर होंगे ।

* यह गाथा कौनसे मूल ग्रंथकी है, इसका अभीतक हमें कोई ठीक पता नहीं चला । पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने इसे स्वयंभूस्तोत्रके उस हालके संस्करणमें उद्धृत किया है जिसे उन्होंने संस्कृतटीका तथा मराठीअनुवादसहित प्रकाशित कराया है । हमारे दर्याफ्त करने पर पंडितजीने सूचित किया है कि यह गाथा 'चर्चासमाधान' नामक ग्रंथमें पाई जाती है । ग्रंथके इस नाम परसे ऐसा मालूम होता है कि वहाँ भी यह गाथा उद्धृत ही होगी और किसी दूसरे ही पुरातन ग्रंथकी जान पड़ती है ।

चार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ वहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व, इन सोलह गुणोंसे प्रायः युक्त थे—इनकी उच्च तथा गहरी भावनाओंसे आपका आत्मा भावित था—क्योंकि, दर्शनविशुद्धिको लिये हुए, ये ही गुण समस्त अथवा व्यस्त रूपसे आगममें तीर्थंकरप्रकृति नामा 'नामकर्म'की महा पुण्यप्रकृतिके आस्रवके कारण कहे गये हैं * । इन गुणोंका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी वहुतसी टीकाओं तथा दूसरे भी कितने ही ग्रंथोंमें विशद रूपसे दिया हुआ है, इस लिये उनकी यहाँपर कोई व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं है । हाँ, इतना जरूर वतलाना होगा कि दर्शनविशुद्धिके साथ साथ, समंतभद्रकी '**अर्हद्भक्ति**' वहुत वढ़ी चढ़ी थी, वह वड़े ही उच्च कोटिके विकासको लिये हुए थी । उसमें अंधश्रद्धा अथवा अंधविश्वासको स्थान नहीं था, गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इस लिये वह एकदम शुद्ध तथा निर्दोष थी । अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समंतभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मालूम होते हैं । उन्होंने स्वयं भी इस वातका अनुभव किया था, और इसीसे वे अपने 'जिनस्तुतिशतक' के अन्तमें लिखते हैं—

---

* देखो, तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके छठे अध्यायका २४ वाँ सूत्र, और उसके 'श्लोकवार्तिक' भाष्यका निम्न पद्य—

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः ।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः ॥

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते॥ ११४॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजःपते! (केवलज्ञानस्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान) हूँ।

समंतभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था। अर्हद्गुणोंमें इतनी

१ समंतभद्रके इस उल्लेखसे ऐसा पाया जाता है कि यह 'जिनशतक' ग्रंथ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों—स्तुतिग्रंथों—का निर्माण कर चुके थे और स्तुतिरचना उनका एक व्यसन बन चुका था। आश्चर्य नहीं जो देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू नामके स्तोत्र इस ग्रंथसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समन्तभद्र अपने स्तुतिव्यसनको 'सुस्तुतिव्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हों।

अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थंकर होनेके योग्य पुण्य संचय कर सके हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर उनकी वड़ी रुचि थी, उन्होंने इसीको अपना व्यसन लिखा है और यह विलकुल ठीक है। समंतभद्रके जितने भी ग्रंथ पाये जाते हैं उनमेंसे कुछको छोड़कर शेष सब ग्रंथ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे समंतभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'जिनस्तुतिशतक' के सिवाय, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू स्तोत्र, ये आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। इन ग्रंथोंमें जिस स्तोत्रप्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समंतभद्रसे पहलेके ग्रंथोंमें प्रायः नहीं पाई जाती अथवा वहुत ही कम उपलब्ध होती है। समंतभद्रने, अपने स्तुतिग्रंथोंके द्वारा, स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार तथा संस्कार किया है और इसी लिये वे '**स्तुतिकार**' कहलाते थे। उन्हें '**आद्य स्तुतिकार**' होनेका भी गौरव प्राप्त था। श्वेताम्वर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहेमचंद्रने भी अपने 'सिद्धहैमशव्दानुशासन' व्याकरणके द्वितीय सूत्रकी व्याख्यामें "**स्तुतिकारोऽप्याह**" इस वाक्यके द्वारा आपको 'स्तुतिकार' लिखा है और साथ ही आपके 'स्वयंभूस्तोत्र' का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

**नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे[1] रसोपविद्धा इव लोहधातवः।**
**भवन्त्यभिप्रेतफला[2] यतस्ततो भवन्तमार्या प्रणता हितैषिणः॥**

१—२ सनातनजैनग्रंथमालामें प्रकाशित 'स्वयंभूस्तोत्र' में और स्वयंभूस्तोत्रकी प्रभाचंद्राचार्यविरचित संस्कृतटीकामें 'लांछना इमे' की जगह 'सत्यलाञ्छिताः' और 'फलाः' की जगह 'गुणाः' पाठ पाया जाता है।

इसी पद्यको श्वेताम्बराग्रणी श्रीमलयगिरिसूरिने भी, अपनी 'आवश्यकसूत्र'की टीकामें, 'आद्यस्तुतिकारोऽप्याह' इस परिचय-वाक्यके साथ उद्धृत किया है, और इस तरह पर समंतभद्रको 'आद्यस्तुतिकार'—सबसे प्रथम अथवा सबसे श्रेष्ठ स्तुतिकार—सूचित किया है। इन उल्लेखवाक्योंसे यह भी पाया जाता है कि समंतभद्रकी 'स्तुतिकार' रूपसे भी बहुत अधिक प्रसिद्धि थी और इसी लिये 'स्तुतिकार'के साथमें उनका नाम देनेकी शायद कोई जरूरत नहीं समझी गई।

समंतभद्र इस स्तुतिरचनाके इतने प्रेमी क्यों थे और उन्होंने क्यों इस मार्गको अधिक पसंद किया, इसका साधारण कारण यद्यपि, उनका भक्ति-उद्रेक अथवा भक्तिविशेष हो सकता है, परंतु, यहाँपर हम उन्हींके शब्दोंमें इस विषयको कुछ और भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं और साथ ही यह प्रकट कर देना चाहते हैं कि समंतभद्रका इन स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें क्या भाव था और वे उन्हें किस महत्त्वकी दृष्टिसे देखते थे। आप अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' में लिखते हैं—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

१ इसपर मुनि जिनविजयजी अपने 'साहित्यसंशोधक' के प्रथम अंकमें लिखते हैं—"इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि ये (समंतभद्र) प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे, इतना ही नहीं परन्तु आद्य—सबसे पहले होनेवाले—स्तुतिकारका मानप्राप्त थे।"

अर्थात्—स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परंतु साधु स्तोताकी स्तुति कुशल परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब, हे सर्वदा अभिपूज्य **नमिजिन**, ऐसा कौन परीक्षापूर्वकारी विद्वान् अथवा विवेकी होगा जो आपकी स्तुति न करेगा ? जरूर करेगा।

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्र इन अर्हत्स्तोत्रोंके द्वारा श्रेयो मार्गको सुलभ और स्वाधीन मानते थे, उन्होंने इन्हें '**जन्मारण्यशिखी**'[1]—जन्ममरणरूपी संसार वनको भस्म करनेवाली अग्नि—तक लिखा है और ये उनकी उस निःश्रेयस—मुक्तिप्राप्तिविषयक—भावनाके पोषक थे जिसमें वे सदा सावधान रहते थे। इसी लिये उन्होंने इन 'जिन-स्तुतियों' को अपना व्यसन बनाया था—उनका उपयोग प्रायः ऐसे ही शुभ कामोंमें लगा रहता था। यही वजह थी कि संसारमें उनकी उन्नतिका—उनकी महिमाका—कोई बाधक नहीं था; वह नाशरहित थी। 'जिनस्तुतिशतक'के निम्न वाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है—

'वन्दीभूतवतोऽपि[2]नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा * ।'

---

१ 'जन्मारण्यशिखी स्तवः' ऐसा 'जिनस्तुतिशतक' में लिखा है।

२ येषां नन्तुः (स्तोतुः) मुदा (हर्षेण) वन्दीभूतवतोऽपि (मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम) नोन्नतिहतिः (न उन्नतेः माहात्म्यस्य हतिः हननं)।—इति तट्टीकायां नरसिंहः।

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

इसी ग्रंथमें एक श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाया जाता है—

**रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।**
**वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥**

इसमें, थोड़े ही शब्दों द्वारा, अर्हद्भक्तिका अच्छा माहात्म्य प्रदर्शित किया है—यह बतलाया है कि 'हे नाथ, जिस प्रकार लोहा स्पर्शमणि (पारस पाषाण) का सेवन (स्पर्शन) करनेसे सोना बन जाता है और उसमें तेज आ जाता है उसी प्रकार यह मनुष्य आपकी सेवा करनेसे अति स्पष्ट (विशद) ज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत तथा गंभीर हो जाता है।'

माछूम होता है समंतभद्र अपनी इस प्रकारकी श्रद्धाके कारण ही अर्हद्भक्तिमें सदा लीन रहते थे और यह उनकी इस भक्तिका ही परिणाम था जो वे इतने अधिक ज्ञानी तथा तेजस्वी हो गये हैं और उनके वचन अद्वितीय तथा अपूर्व माहात्म्यको लिये हुए थे।

समंतभद्रका भक्तिमार्ग उनके स्तुतिग्रंथोंके गहरे अध्ययनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। वास्तवमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे—निरी एकान्तता तो उनके पास भी नहीं

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा।
वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥ ११५ ॥

१ जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे; इसीसे 'देवागम'में एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है–"न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।"

फटकती थी । वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे । उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हंतदेवको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा, एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि भी एक कारण है । अर्हन्त देवने अपने न्यायबाणोंसे एकान्त दृष्टिका निषेध किया है अथवा उसके प्रतिषेधको सिद्ध किया है और मोहरूपी शत्रुको नष्ट करके वे कैवल्य विभूतिके सम्राट् बने हैं, इसी लिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं कि आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं । यथा—

**एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।**
**असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट्, ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ५५**

—स्वयंभूस्तोत्र ।

इससे समंतभद्रकी साफ तौरपर परीक्षाप्रधानता पाई जाती है और साथ ही यह मालूम होता है कि १ एकान्तदृष्टिका प्रतिषेध करना और २ मोहशत्रुका नाश करके कैवल्य विभूतिका सम्राट् होना ये दो उनके जीवनके खास उद्देश्य थे । समंतभद्र अपने इन उद्देश्योंको पूरा करनेमें बहुत कुछ सफल हुए हैं । यद्यपि, वे अपने इस जन्ममें कैवल्य विभूतिके सम्राट् नहीं हो सके परंतु उन्होंने वैसा होनेके लिये प्रायः संपूर्ण योग्यताओंका संपादन कर लिया है यह कुछ कम सफलता नहीं है—और इसी लिये वे आगामीको उस विभूतिके सम्राट् होंगे—तीर्थंकर होंगे—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है । केवलज्ञान न होने पर भी, समंतभद्र उस स्याद्वादविद्याकी अनुपम विभूतिसे विभूषित थे जिसे केवलज्ञानकी तरह सर्व तत्त्वोंकी प्रकाशित करनेवाली लिखा है और जिसमें तथा केवलज्ञानमें साक्षात्–असाक्षात्का ही भेद माना गया

है * । इस लिये प्रयोजनीय पदार्थोंके सम्बंधमें आपका ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था, इसमें जरा भी संदेह नहीं है, और इसका अनुभव ऊपरके कितने ही अवतरणों तथा समंतभद्रके ग्रंथोंसे बहुत कुछ हो जाता है। यही वजह है कि श्रीजिनसेनाचार्यने आपके वचनोंको केवली भगवान महावीरके वचनोंके तुल्य प्रकाशमान लिखा है और दूसरे भी कितने ही प्रधान प्रधान आचार्यों तथा विद्वानोंने आपकी विद्या और वाणीकी प्रशंसामें खुला गान किया है + ।

यहाँ तकके इस संपूर्ण परिचयसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और इसमें जरा भी संदेह नहीं रहता कि समन्तभद्र एक बहुत ही बड़े महात्मा थे, समर्थ विद्वान् थे, प्रभावशाली आचार्य थे, महा मुनिराज थे, स्याद्वाद विद्याके नायक थे, एकांत पक्षके निर्मूलक थे, अबाधितशक्ति थे, 'सातिशय योगी' थे, सातिशय वादी थे, सातिशय वाग्मी थे, श्रेष्ठकवि थे, उत्तम गमक थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशांत थे, गंभीर थे, भद्रप्रयोजन और सदुद्देश्यके धारक थे, हितमितभाषी थे, लोकहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, मुनिजनोंसे वंद्य थे, बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंसे स्तुत्य थे और जैन शासनके अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे।

---

* यथा—स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥
—आप्तमीमांसा ।

+ श्वेताम्बर साधु मुनिश्री जिनविजयजी कुछ थोड़ेसे प्रशंसा वाक्योंके आधार पर ही लिखते हैं—"इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो।"—जैन सा० सं० १।

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भग-वान्[1] समंतभद्र स्वामीके विषयमें श्रीशिवकोटि आचार्यने, अपनी 'रत्न-माला' में जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समंतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासन समुद्रको बढ़ानेके लिये चंद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और हमें बड़ी प्यारी माॡम देती है। निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य हैं कि उन्हें निरंतर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय; और इस लिये हम, शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनंदन और अनु-मोदन करते हुए, उसे यहाँपर उद्धृत करते हैं—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥



१ श्रीविद्यानंदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमें कई वार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है।

# मुनि-जीवन और आपत्काल।



स्वामी समन्तभद्रके बाधारहित और शांत मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे हम आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समन्तभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनि-जीवनसहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है—

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे; ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरंतर पुष्ट बनाते थे, पाँचों इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसी लिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्रावस्थामें एक कर्वटसे दूसरी कर्वट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीव-जंतुको बाधा पहुच जाय; वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकान्त स्थानमें

क्षेपण करते थे । इसके सिवाय, उन पर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी नहीं रखते थे; जंगलमें यदि हिंस्र जंतु भी उन्हें सताते अथवा डंस मशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे वलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्याना-वस्थामें अपने शरीर पर होनेवाले चींटी आदि जंतुओंके स्वच्छंद विहारको ही रोकते थे । वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही, उपसर्गों तथा परीषहोंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिन्तवन कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमें जरा भी दोष नहीं देते थे ।

समन्तभद्र सत्यके बड़े प्रेमी थे; वे सदा यथार्थ भाषण करते थे, इतना ही नहीं बल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे; और कितनी ही बार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे । स्त्रियोंके प्रति आपका अनादर भाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे; बल्कि माता, बहिन और सुताकी तरहसे ही पहचानते थे; साथ ही, मैथुन कर्मसे, घृणात्मक दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उसमें द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे । इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे

---

१ आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणसे भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरंडक' में दिया है—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि बीभत्सं ।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ १४३ ॥

२ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारंभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरंभ न होता हो उसीके द्वारा उस अहिंसाकी पूर्ण सिद्धि मानते थे। उसी पूर्ण अहिंसा और उसी परम ब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग किया था और नैर्ग्रंथ्य आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना प्राकृतिक दिगम्बर वेष धारण किया था। इसीलिये आप अपने पास कोई कौड़ी पैसा नहीं रखते थे, बल्कि कौड़ी पैसेसे सम्बंध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे। आपके पास शौचोपकरण (कमंडलु), संयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकादिक)के रूपमें जो कुछ थोड़ासी उपधि थी उससे भी आपका ममत्व नहीं था—भले ही उसे कोई उठा ले जाय आपको इसकी जरा भी चिन्ता नहीं थी। आप सदा भूमिपर शयन करते थे और अपने शरीरको कभी संस्कारित अथवा मंडित नहीं करते थे; यदि पसीना आकर उस पर मैल जम जाता था तो उसे स्वयं अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उजलारूप दिखलानेकी भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे; बल्कि उस मलजनित परीषहको साम्यभावसे जीतकर कर्मफलको धोनेका यत्न करते थे, और इसी प्रकार नग्न रहते तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीषहोंको भी खुशीखुशीसे सहन करते थे; इसीसे आपने अपने एक परिचयमें, गौरवके साथ अपने आपको 'नग्नाटक' और 'मलमलिनतनु'[1] भी प्रकट किया है।

समंतभद्र दिनमें सिर्फ एक वार भोजन करते थे, रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे, और भोजन भी आगमोदित विधिके अनुसार

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११९ ॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

१ 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुः' इत्यादि पद्यमें।

शुद्ध, प्रासुक तथा निर्दोष ही लेते थे। वे अपने उस भोजनके लिये किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे, किसीको किसी रूपमें भी अपना भोजन करने करानेके लिये प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हें यह मालूम हो जाता था कि किसीने उनके उद्देश्यसे कोई भोजन तय्यार किया है अथवा किसी दूसरे अतिथि ( मेहमान ) के लिये तय्यार किया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उस भोजनको नहीं लेते थे। उन्हें उसके लेनेमें सावद्यकर्मके भागी होनेका दोष मालूम पड़ता था और सावद्यकर्मसे वे सदा अपने आपको मन-वचन-काय तथा कृत-कारित अनुमोदनाद्वारा दूर रखना चाहते थे। वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कल्पित और शास्त्रानुमोदित समझते थे जिसे दातारने स्वयं अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये तय्यार किया हो, जो देनेके स्थान पर उनके आनेसे पहले ही मौजूद हो और जिसमेंसे दातार कुछ अंश उन्हें भक्तिपूर्वक भेट करके शेषमें स्वयं संतुष्ट रहना चाहता हो—उसे अपने भोजनके लिये फिर दोबारा आरंभ करनेकी कोई जरूरत न हो। आप भ्रामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी बाधा न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे। भोजनके समय यदि आगमकथित दोषोंमेंसे उन्हें कोई भी दोष मालूम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उप-स्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनको छोड़ देते थे और इस अलाभके कारण चित्त पर जरा भी मैल नहीं लाते थे। इसके सिवाय आपका भोजन परिमित और सकारण होता था। आगममें मुनियोंके लिये ३२ ग्रास तक भोजनकी आज्ञा है परंतु आप उससे अक्सर दो चार दस ग्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि विना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा धार्मिक अनुष्टानोंके सम्पादनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती तो

कई कई दिनके लिए आहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे; अपनी शक्तिको जाँचने और उसे बढ़ानेके लिये भी आप अक्सर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गुप्त नियम भी ले लेते थे जिनकी स्वाभाविक पूर्ति पर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था। वास्तवमें, समंतभद्र भोजनको इस जीवनयात्राका एक साधन मात्र समझते थे। उसे अपने ज्ञान, ध्यान और संयमादिकी वृद्धि सिद्धि तथा स्थितिका सहायक मात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको ग्रहण करते थे। किसी शारीरिक बलको बढ़ाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हें उसके द्वारा इष्ट नहीं था; वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही वजह है कि आप भोजनके ग्रासको प्रायः बिना चबाये ही—बिना उसका रसास्वादन किये ही—निगल जाते थे। आप समझते थे कि जो भोजन केवल देहस्थितिको कायम रखनेके उद्देशसे किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी जरूरत ही नहीं है, उसे तो उदरस्थ कर लेने मात्रकी जरूरत है। साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इंद्रियविषय पुष्ट होता है, इंद्रियविषयोंके सेवनसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, उलटी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णाकी वृद्धि निरंतर ताप उत्पन्न करती है और उस ताप अथवा दाहके कारण यह जीव संसारमें अनेक प्रकारकी दुःखपरम्परासे पीडित होता है; * इस लिये वे क्षणिक सुखके लिये कभी इंद्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी

* शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ १२ ॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

अभिलाषा करना ही वे परीक्षावानोंके लिये एक कलंक और अधर्मकी बात समझते थे। आपकी यह खास धारणा थी कि, आत्यन्तिक स्वास्थ्य —अविनाशी स्वात्मस्थिति अथवा कर्मविमुक्त अनंतज्ञानादि अवस्थाकी प्राप्ति ही पुरुषोंका—इस जीवात्माका—स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—क्षणस्थायी विषयसुखानुभवन—उनका स्वार्थ नहीं है; क्योंकि तृषानुषंगसे—भोगोंकी उत्तरोत्तर आकांक्षा बढ़नेसे—शारीरिक और मानसिक—दुःखोंकी कभी शांति नहीं होती। वे समझते थे कि, यह शरीर 'अजंगम' है—बुद्धिपूर्वक परिस्पंदव्यापाररहित है—और एक यंत्रकी तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है; साथ ही 'मलवीज' है—मलसे उत्पन्न हुआ है; मलयोनि है—मलकी उत्पत्तिका स्थान है—, '—गलन्मल' है—मल ही इससे झरता है—, 'पूति' है—दुर्गंधियुक्त है—, 'बीभत्स' है—घृणात्मक है—, 'क्षयि' है—नाशवान् है—और 'तापक' है—आत्माके दुःखोंका कारण है—; इस लिये वे इस शरीरसे स्नेह रखने तथा अनुराग बढ़ानेको अच्छा नहीं समझते थे, उसे व्यर्थ मानते थे, और इस प्रकारकी मान्यता तथा परिणतिको ही आत्महित स्वीकार करते थे * । अपनी ऐसी ही विचार-

---

* स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥ ३१ ॥

अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥ ३२ ॥

—स्वयंभूस्तोत्र ।

मलवीजं मलयोनिं, गलन्मलं, पूतिगन्धबीभत्सं, पश्यन्नंगम्—

—रत्नकरंडक ।

परिणतिके कारण समंतभद्र शरीरसे बड़े ही निस्पृह और निर्ममत्व रहते थे—उन्हें भोगोंसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—; वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निकालनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध भोजन देते थे और इस बातकी कोई पर्वाह नहीं करते थे कि वह भोजन रूखा-चिकना, ठंडा-गरम, हलका-भारी, कड़ुआ कषायला आदि कैसा है।

इस लघु भोजनके बदलेमें समन्तभद्र अपने शरीरसे यथाशक्ति खूब काम लेते थे, घंटों तक कार्योत्सर्गमें स्थित हो जाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये अपनी शक्तिको न छुपाकर, दूसरे भी कितने ही अनशनादि उग्र उग्र बाह्य तपश्चरणोंका अनुष्ठान किया करते थे[1]। इसके सिवाय नित्य ही आपका बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रंथरचना और परहितप्रतिपादनादि कितने ही धर्म-कार्योंमें खर्च होता था। आप अपने समयको जरा भी धर्मसाधनारहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समन्तभद्र जब 'मणुवकहल्ली'[2] ग्राममें धर्मध्यानसहित आनंदपूर्वक अपना मुनिजीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंके द्वारा आत्मोन्नतिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकाएक पूर्व-संचित असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें 'भस्मक'

---

१ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥८३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

२ ग्रामका यह नाम 'राजावलीकथे' में दिया है। यह 'कांची' के आसपासका कोई गाँव जान पड़ता है।

नामका एक महारोग उत्पन्न हो गया* । इस रोगकी उत्पत्तिसे यह स्पष्ट है कि समंतभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण हो गया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गरमी और तेजीसे जठराग्निको अत्यंत प्रदीप्त, वलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता ह और वह अग्नि अपनी तीक्ष्णतासे विरूक्ष शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई, उसे क्षणमात्रमें भस्म कर देती है। जठराग्निकी इस अत्यंत तीक्ष्णावस्थाको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं। यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात्, गुरु, स्निग्ध, शीतल, मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यंत सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है + । इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने शुरूशुरूमें

---

* ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में ऐसा ही सूचित करते हैं। यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुःखदायकः ।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥

—समन्तभद्रकथा, पद्य नं० ४, ५।

+ कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ ।
अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्मात् ।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ।

—इति भावप्रकाशः ।

उसकी कुछ पर्वाह नहीं की । वे स्वेच्छापूर्वक धारण किये हुए उपवासों तथा अनशनादिक तपोंके अवसर पर जिस प्रकार क्षुधापरीषहको सहा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी पूर्व अभ्यासके बल पर, उसे सह लिया—परंतु इस क्षुधा और उस क्षुधामें बड़ा अन्तर था; वे इस बढ़ती हुई क्षुधाके कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य वेदनाका अनुभव करने लगे; पहले भोजनसे घंटोंके बाद नियत समय पर भूखका कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके दूसरी ओर लगे रहने आदिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था; परंतु अब भोजनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा फिरसे आ धमकती थी और भोजनके न मिलने पर जठराग्नि अपने आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना प्रारंभ कर देती थी । समन्तभद्रको इससे बड़ी वेदना होती थी, क्षुधाकी समान दूसरी शरीरवेदना है भी नहीं; कहा भी गया है—

---

" नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः ।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥
पक्त्वाऽन्नं सततं धातून् शोणितादीन्पचत्यपि ।
ततो दौर्बल्यमातंकान् मृत्युं चोपनयेन्नरं ॥
भुक्तेऽन्ने लभते शांतिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।
तृट्स्वेददाहमूर्च्छा स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः ॥ "
" तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतमधुरविज्वलैः ।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ॥ "

—इति चरकः ।

'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना ।'

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसर पर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोवारा भोजन करना अथवा रोगोपशांतिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल गरिष्ठ और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सब उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था। इस लिये समंतभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए, उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे "हे आत्मन्, तूने अनादि कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक वार नरक पशु आदि गतियोंमें दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है; उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है। तुझे इतनी भी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाजाने पर भी उपशम न हो परंतु एक कण खानेको नहीं मिला। ये सब कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिये उनसे कोई लाभ नहीं हो सका, अब तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर। यह सब तेरे ही पूर्व कर्मका दुर्विपाक है। साम्यभावसे वेदनाको सह लेने पर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंको उठानेका अवसर ही प्राप्त होगा।" इस तरह पर समंतभद्र अपने साम्यभावको दृढ़ रखते थे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका अवसर नहीं देते थे। इसके सिवाय वे इस शरीरको कुछ अधिक भोजन प्राप्त कराने तथा शारीरिक शक्तिको विशेष क्षीण न होने देनेके लिये जो कुछ कर सकते थे वह इतना ही था कि जिन अनशनादिक वाह्य तथा घोर तपश्चरणोंको वे कर रहे थे और जिनका अनुष्ठान उनकी नित्यकी इच्छा तथा शक्ति पर निर्भर था—मूलगुणोंकी तरह लाजमी नहीं था—उन्हें वे ढीला अथवा स्थगित कर दें। उन्होंने

वैसा ही किया भी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग और कायक्लेश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कालके लिये, एकदम स्थगित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ ग्रास लेते थे; इसके सिवाय रोगी मुनिके लिये जो कुछ भी रिआयतें मिल सकती थीं वे भी प्रायः सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी, आपकी क्षुधाको जरा भी शांति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढ़ती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी, जठरानलकी ज्वालाओं तथा पित्तकी तीक्ष्ण ऊष्मासे शरीरका रसरक्तादि दग्ध हुआ जाता था, ज्वालाएँ शरीरके अंगोंपर दूर दूर तक धावा कर रही थीं, और नित्यका स्वल्प भोजन उनके लिये जरा भी पर्याप्त नहीं होता था—वह एक जाज्वल्यमान अग्निपर थोड़ेसे जलके छींटेका ही काम देता था। इसके सिवाय यदि किसी दिन भोजनका अन्तराय हो जाता था तो और भी ज्यादा गजब हो जाता था—क्षुधा राक्षसी उस दिन और भी ज्यादा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी। इस तरहपर समंतभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें अच्छे अच्छे धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञानगुण डगमगा जाता है। परंतु समंतभद्र महामना थे, महात्मा थे, आत्म-देहान्तरज्ञानी थे, संपत्ति-विपत्तिमें समचित्त थे, निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक थे और उनका ज्ञान अदुःखभावित[1] नहीं था जो दुःखोंके आने पर क्षीण

---

1 अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥

—समाधितंत्र।

हो जाय, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहन कर अच्छा अभ्यास किया था, वे आनंदपूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे—उन्हें सहते हुए खेद नहीं मानते थे* और इसलिये, इस संकटके अवसरपर वे जरा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके ।

समन्तभद्रने जब यह देखा कि रोग शान्त नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढ़ती जारही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है; साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये हैं, तब आपको बड़ी ही चिन्ता पैदा हुई । आप सोचने लगे—"इस मुनिअवस्थामें, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छयालीस दोषों, चौदह मलदोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ, इस भयंकर रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती† । मुनि पदको कायम रखते हुए, यह रोग प्रायः असाध्य अथवा निःप्रतीकार जान पड़ता है; इस लिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये

* आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते ॥
—समाधितंत्र ।

† जो लोग आगमसे इन उद्गमादि दोषों तथा अन्तरायोंका स्वरूप जानते हैं और जिन्हें पिण्डशुद्धिका अच्छा ज्ञान है उन्हें यह बतलानेकी जरूरत नहीं है कि सच्चे जैन साधुओंको भोजनके लिये कैसे ही कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयोंका कारण दातारोंकी कोई कमी नहीं है; बल्कि भोजनविधि और निर्दोष भोजनकी जटिलता ही उसका प्रायः एक कारण है—फिर 'भस्मक' जैसे रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी तो बात ही दूर है ।

और या 'सल्लेखना' व्रत धारण करके इस शरीरको धर्मार्थ त्याग-नेके लिये तयार हो जाना चाहिये; परंतु मुनिपद कैसे छोड़ा जा सकता है! जिस मुनिधर्मके लिये मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ, जिस मुनिधर्मको मैं बड़े प्रेमके साथ अब तक पालता आ रहा हूँ और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या मैं छोड़ दूँ? क्या क्षुधाकी वेदनासे घबड़ाकर अथवा उससे बचनेके लिये छोड़ दूँ? क्या इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके लिये उसे बलि दे दूँ? यह नहीं हो सकता। क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिकारसे अथवा इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे इस देहकी स्थिति सदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी? क्या फिर इस देहमें क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा? क्या मृत्यु नहीं आएगी? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकार आदिमें गुण ही क्या है! उनसे इस देह अथवा देहीका उपकार ही क्या बन सकता है?* मैं दुःखोंसे बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं छोडूँगा; भले ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है; मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाश नहीं कर सकता; मैंने दुःखोंका स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था, न कि उनसे घबराने और बचनेके लिए; मेरी परीक्षाका यही समय है, मैं मुनिधर्मको नहीं

---

* क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारादिविषयक आपका यह भाव 'स्वयंभूस्तोत्र' के निम्न पद्यसे भी प्रकट होता है—

'क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्' ॥१८॥

छोड़ूँगा।" इतनेमें ही अंतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज आई—"समंतभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैनशासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमें समर्थ है, तेरी बदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे; यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है ? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे ही तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़ दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था द्वारा रोगको शान्त करके फिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमें कौनसी हानि है ? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रके भावको तो इससे जरा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हर दम तेरे साथ ही रहेगा; तू द्रव्यलिंगकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे; परंतु भावोंकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है ? इसे आपद्धर्मके तौर पर ही स्वीकार कर; तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ रही है, अब उसे गौण क्यों किये देता है ? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर—अल्प कालके लिये मुनि-पदको छोड़कर—बहुतोंका भला कर सके तो इससे तेरे चरित्र पर जरा भी कलंक नहीं आ सकता, वह तो उलटा और भी ज्यादा देदीप्य-मान होगा; अतः तू कुछ दिनोंके लिये इस मुनिपदका मोह छोड़कर और मानापमानकी जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोगको शांत करनेका यत्न कर, वह निःप्रतीकार नहीं है; इस रोगसे मुक्त होने पर, स्वस्थावस्थामें, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा; अब विलम्ब करनेकी जरूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी।"

इस तरह पर समंतभद्रके हृदयमें कितनी ही देरतक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा। अन्तको आपने यही स्थिर किया कि

" क्षुदादिदुःखोंसे घबराकर उनके प्रतिकारके लिये अपने न्याय्य नियमोंको तोड़ना उचित नहीं है; लोकका हित वास्तवमें लोकके आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि लोककी जितनी सेवा मैं करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका; परंतु उस सेवाका भाव मेरे आत्मामें मौजूद है और मैं उसे अगले जन्ममें पूरा करूँगा; इस समय लोकहितकी आशा पर आत्महितको बिगाड़ना मुनासिब नहीं है; इस लिये मुझे अब 'सल्लेखना' का व्रत जरूर ले लेना चाहिये और मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठकर शांतिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।" इस निश्चयको लेकर समंतभद्र सल्लेखना व्रतकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, और अनेक सद्गुणालंकृत पूज्य गुरुदेवके पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और रोगकी निःप्रतीकारावस्थामें 'सल्लेखना' का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है, * यह विनम्र प्रार्थना की कि 'अब आप कृपाकर मुझे सल्लेखना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद देवें कि मैं साहसपूर्वक और सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ।' समंतभद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाको सुनकर गुरुजी कुछ देरके लिये मौन रहे, उन्होंने समंतभद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर दृष्टि डाली और फिर अपने

१ 'राजावलीकथे' से यह तो पता चलता है कि समंतभद्रके गुरुदेव उस समय मौजूद थे और समंतभद्र सल्लेखनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये थे, परंतु यह मालूम नहीं हो सका कि उनका क्या नाम था।

* उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥
—रत्नकरंडक।

योगबलसे माळूम किया कि समंतभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं; यदि उसे सल्लेखनाकी इजाजत दी गई तो वह अकालहीमें कालके गालमें चला जायगा और उससे श्रीवीरभगवानके शासन कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी; साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा। यह सब सोचकर गुरुजीने, समंतभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा "वत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासनकार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है; लोकको भी इस समय तुम्हारी बड़ी जरूरत है, इस लिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहाँपर और जिस वेषमें रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यंत भोजन प्राप्त कर सको वहीं पर खुशीसे चले जाओ और उसी वेषको धारण कर लो, रोगके उपशांत होने पर फिरसे जैनमुनि-दीक्षा धारण कर लेना और अपने सब कामोंको सँभाल लेना। मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसी लिये मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेषको धारण कर सकते हो; मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ।"

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोंको सुनकर और अपने अन्तःकरणकी उस आवाजको स्मरण करके समंतभद्रको यह निश्चय हो गया कि इसीमें जरूर कुछ हित है, इस लिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये।

अब समन्तभद्रको यह चिन्ता हुई कि दिगम्बर मुनिवेषको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेष धारण किया जाय, और वह वेष जैन हो या अजैन । अपने मुनिवेषको छोड़नेका खयाल आते ही उन्हें फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे—" जिस दूसरे वेषको मैं आज तक विकृत और अप्राकृतिक वेष समझता आरहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ ! क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा ? क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है ?—हाँ, ऐसी ही आज्ञा है । उन्होंने स्पष्ट कहा है ' यही मेरी आज्ञा है, '—' चाहे जिस वेषको धारण कर लो, रोगके उपशांत होने पर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना ' तब तो इसे अलंघ्य शक्ति भवितव्यता कहना चाहिये । यह ठीक है कि मैं वेष ( लिंग ) को ही सब कुछ नहीं समझता—उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नहीं जानता—वह देहाश्रित है और देह ही इस आत्माका संसार है; इस लिये मुझ मुमुक्षुका—संसार बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका—किसी वेषमें एकान्त आग्रह नहीं हो सकता*; फिर भी मैं वेषके विकृत और अविकृत ऐसे दो भेद जरूर मानता हूँ, और अपने लिये अविकृत वेषमें रहना ही अधिक अच्छा समझता हूँ । इसीसे, यद्यपि,

---

१—...ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥—स्वयंभू० ।

* श्रीपूज्यपादके समाधितंत्रमें भी वेषविषयमें ऐसा ही भाव प्रतिपादित किया गया है; यथा—

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः ॥ ८७ ॥

अर्थात्—लिंग ( जटाधारण नग्नत्वादि ) देहाश्रित है और देह ही आत्माका संसार है, इस लिये जो लोग लिंग ( वेष ) का ही एकान्त आग्रह रखते हैं—उसीको मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संसारबंधनसे नहीं छूटते ।

उस दूसरे वेषमें मेरी कोई रुचि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी परंतु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मैं खुद ही हूँगा न ? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पड़ेगा ! यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है । अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी अब क्या है ? मुनिवेषको कायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छाचारसे प्रवृत्ति करूँ, तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलंकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता; मैं खुशीसे प्राण दे सकता हूँ परंतु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलंकित होना पड़े । मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिके रूपमें मैं उस पदके विरुद्ध कोई हीनाचरण करूँ; और इस लिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा । मुनिपदको छोड़कर मैं 'क्षुल्लक' हो सकता था, परंतु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिये भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है, जिससे उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए रोगोपशांतिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता, और मर्यादाका उल्लंघन मुझसे नहीं बन सकता—इस लिये मैं उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा । बिलकुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रयमें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है । इसके सिवाय मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाजत नहीं देती कि—मैं अपने भोजनके लिये किसी व्यक्ति-विशेषको कष्ट दूँ; मैं अपने भोजनके लिये ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूँ जिसमें खास मेरे लिये किसीको भी भोज-

नका कोई प्रबंध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे ।"

यही सब सोचकर अथवा इसी प्रकारके बहुतसे ऊहापोहके बाद आपने अपने दिगम्बर मुनिवेषका आदरके साथ त्याग किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना आरंभ कर दिया। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। देहसे भस्मको मलते हुए आपकी आँखें कुछ आर्द्र हो आई थीं। जो आँखें भस्मक व्याधिकी तीव्र वेदनासे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थीं उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। संघके मुनिजनोंका हृदय भी आपको देखकर भर आया था और वे सभी भावीकी अलंघ्य शक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिन्तवन कर रहे थे। समंतभद्र जब अपने देहपर भस्मका लेप कर चुके तो उनके बहिरंगमें भस्म और अंतरङ्गमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा मालूम होता था कि एक महाकान्तिमान रत्न कर्दमसे लिप्त हो रहा है और वह कर्दम उस रत्नमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता* अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समंतभद्रने अपनी भस्मकाग्निको भस्म करने—उसे शांत बनाने—के लिये यह 'भस्म' का दिव्य प्रयोग किया है। अस्तु। संघको अभिवादन करके अब समंतभद्र एक वीर योद्धाकी तरह, कार्यसिद्धिके लिये, 'मणुवकहल्ली'से चल दिये।

'राजावलिकथे' के अनुसार, समंतभद्र मणुवकहल्लीसे चलकर 'कांची' पहुँचे और वहाँ 'शिवकोटि' राजाके पास, संभवतः उसके

* अन्तःस्फुरितसम्यक्त्वे बहिर्व्याप्तकुलिंगकः ।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥
—आ॰ कथाकोश ।

'भीमलिंग' नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया; राजा उनकी भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें 'शिव' समझकर प्रणाम किया; धर्मकृत्योंका हाल पूछे जाने पर राजाने अपनी शिवभक्ति, शिवाचार, मंदिरनिर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन बारह खंडुग[1] परिमाण तंडुलान्न विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया; इस पर समंतभद्रने, यह कह कर कि 'मैं तुम्हारे इस नैवद्यको शिवार्पण[2] करूँगा,' उस भोजनके साथ मंदिरमें अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा की। सब लोगोंके चले जाने पर समन्तभद्रने शिवार्थ जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियाँ देनी आरंभ की और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया। संपूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेट किया परंतु पहले दिन प्रचुरपरिमाणमें तृप्तिपर्यंत भोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उपशांत होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया। समंतभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको

---

१ 'खंडुग' कितने सेरका होता है, इस विषयमें वर्णी नेमिसागरजीने, पं० शांतिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधार पर हमें यह सूचित किया है कि बेंगलोर प्रान्तमें २०० सेरका, मैसूर प्रान्तमें १८० सेरका, हेगडदेवनकोटमें ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खंडुग प्रचलित है, और सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है। मालूम नहीं उस समय खास कांचीमें कितने सेरका खंडुग प्रचलित था। संभवतः वह ४० सेरसे तो कम न रहा होगा।

२ 'शिवार्पण' में कितना ही गूढ अर्थ संनिहित है।

देवप्रसाद वतलाया, परंतु राजाको उससे संतोष नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें भोजन बच गया तब राजाका संदेह बढ़ गया और उसने पाँचवें दिन मंदिरको, उस अवसर पर, अपनी सेनासे घिरवाकर दरवाजेको खोल डालनेकी आज्ञा दी। दरवाजेको खोलनेके लिये बहुतसा कलकल शब्द होने पर समंतभद्रने उपसर्गका अनुभव किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार-पानका त्याग करके तथा शरीरसे बिलकुल ही ममत्व छोड़कर, आपने बड़ी ही भक्तिके साथ एकाग्रचित्तसे श्रीवृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति करना आरंभ किया। स्तुति करते हुए समंतभद्रने जब आठवें तीर्थंकर श्रीचंद्रप्रभ स्वामीकी भलेप्रकार स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की, तो उन्हें उस स्थानपर किसी दिव्य शक्तिके प्रतापसे, चंद्रलांछनयुक्त अर्हंत भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब, विभूतिसहित, प्रकट होता हुआ दिखलाई दिया। यह देखकर समंतभद्रने दरवाजा खोल दिया और आप शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति करनेमें तल्लीन हो गये। दरवाजा खुलते ही इस माहात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने छोटे भाई 'शिवायन' सहित, योगिराज श्रीसमंतभद्रको दंडवत नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। समंतभद्रने, श्रीवर्द्धमान महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, हाथ उठाकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद धर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा संसार-देह-भोगोंसे विरक्त हो गया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ' को राज्य देकर 'शिवायन' सहित उन मुनिमहाराजके समीप जिनदीक्षा धारण की। और भी कितने

१ इसी स्तुतिको 'स्वयंभूस्तोत्र' कहते हैं।

ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक हो गये * ।

इस तरहपर समंतभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ हो जानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली ।

श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेखमें[1] भी, जो आजसे करीब आठ सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शांति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चंद्रप्रभ' (बिम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है । यथा—

**वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-**
**दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः ।**
**आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ**
**जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥**

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (बिम्ब-रूपमें) 'चंद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी

---

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ९२ पर उद्धृत किया है । इस पाठका अनुवाद हमें वर्णी नेमि-सागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं ।

१ इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया नं० ६७ है; इसे 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है ।

जैन मार्ग ( धर्म ) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गण-नायक आचार्य समंतभद्र पुनः पुनः वंदना किये जानेके योग्य हैं।

इस परिचय में, यद्यपि, 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है; परंतु जिन घटनाओंका इसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय' से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है। उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समंतभद्रद्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः 'कांची' ही होगी। यथा—

"( स्वस्ति ) नवतिलिङ्गदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयंन्वादिस्तोत्कोत्कीरण(?)रुद्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयशःश्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्* "

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ ( नया नं० २५४ ) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समंतभद्रके प्रधान शिष्य थे। यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ ॥

—विक्रान्तकौरव।

१ 'स्वयं'से 'कीरण' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है।
* 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ ली, पृ० ३८।
२ यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' की प्रशस्तिमें भी पाया जाता है।

**तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः ।**
**संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥**

—श्र० शिलालेख ।

'विक्रान्तकौरव' के उक्त पद्यमें 'शिवकोटि' के साथ 'शिवायन' नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे 'राजावलिकथे' में 'शिवकोटि' राजाका अनुज (छोटाभाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समंतभद्रसे जिनदीक्षा ली थी; * परंतु शिलालेखवाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसी लिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले 'एतत्' शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि 'इस' तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलंबनके लिये यष्टि बना हुआ है । जान पड़ता है यह पद्य[1] उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि 'शिवकोटि' आचार्य स्वामी समन्तभद्रके शिष्य थे + । आश्चर्य नहीं जो ये 'शिवकोटि' कोई राजा ही हुए हों ।

---

* यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस...संसारशरीर-भोगनिर्वेगदिं श्रीकंठनेम्बसुतंगे राज्यमनित्तु शिवायनं गूडिय आ मुनिपराल्लियें जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि.... ।

१ इससे पहले दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं; और वे ऊपरसे 'गुणादिपरिचय'में उद्धृत किये जाचुके हैं ।

+ नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी 'शिवकोटि' आचार्यको समन्तभद्रका शिष्य लिखा है ( E. C. VIII. ) ।

देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिमें मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथम्।
निष्णातं नयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये ॥

यह पद्य द्व्यर्थक है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक त्र्यर्थक पद्य बहुधा ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिवृद्धिके लिये जिस 'यतिपति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समंतभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित हो जाते हैं। 'अकलंक भावकी व्यवस्था करनेवाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समन्तभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानंद जैसे आचार्यों द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता जुलता है। इस पद्यके अनन्तर ही दूसरे पद्यमें, जो ऊपर उद्धृत भी किया जाचुका है, समंतभद्रके मतको नमस्कार किया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा संभवनीय तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगल पद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समंतभद्रदेव' को नमस्कार

१ त्र्यर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुनन्दीके गुरु नेमिचंद्रका भी आशय लिया जा सकता है, जो वसुनन्दिश्रावकाचारकी प्रशस्तिके अनुसार नयनन्दीके शिष्य और श्रीनन्दीके प्रशिष्य थे।

किया है और दूसरे अर्थमें वही समंतभद्रदेव 'परमात्मा'का विशेषण किया गया है। यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने ॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें '**भेत्तारं वसुपालभावतमसः**' भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावांधकारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा'का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह माळूम होता है कि समंतभद्रस्वामीने भी किसी राजाके भावांधकारको दूर किया है[1]। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समंतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है; परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इस लिये हम इसपर अधिक जोर देना नहीं चाहते।

ब्रह्म नेमिदत्तके[2] 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है—साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि

१ श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावांधकारको दूर किया था।

२ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है। आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है।

महाराजने जिनदीक्षा धारण की थी। परंतु शिवकोटिको, 'कांची' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न लिखकर 'वाराणसी' (काशी—बनारस) का राजा प्रकट किया है, यह भेद है *।

अब देखना चाहिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा सिद्ध होता है। जहाँ तक हमने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो अब तक संकलित हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें मौन माळूम होता है—शिवकोटि नामके राजाकी उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके तत्कालीन राजाओंका तो उससे प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। इतिहासकालके प्रारंभमें ही—ईसवी सन्से करीब ६०० वर्ष पहले—बनारस, या काशी, की छोटी रियासत 'कोशल' राज्यमें मिला ली गई थी, और प्रकट रूपसे अपनी स्वाधीनताको खो चुकी थी। इसके बाद, ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोशल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था, और उस वक्तसे उसका एक स्वतंत्र राज्यसत्ताके तौर पर कोई उल्लेख नहीं मिलता +। संभवतः यही वजह है जो इस छोटीसी परतंत्र रियासतके राजाओं अथवा रईसोंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता। रही कांचीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे

---

* यथा—वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम्।
योगिलिंगं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥ १९ ॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥ २० ॥

+ V. A. Smith's Early History of India, III Edition, p. 30–35. विन्सेंट ए० स्मिथ साहबकी अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, तृतीयसंस्करण, पृ० ३०–३५।

पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५० के करीब 'समुद्रगुप्त' ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन् ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध) का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मन्का, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मन्का, ६५५ में परमेश्वरवर्मन्का, इसके बाद नरसिंहवर्मन द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मन्का नामोल्लेख मिलता है[2]। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंह-विष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओंका राज्यक्रम ठीक पाया जाता है[3]। परंतु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर—शिव-कोटिका निश्चय करनेके लिये—खास जरूरत थी। इसके सिवाय विंसेंट स्मिथ साहबने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया' (पृ० २७५–२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३०

---

१ शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और यह उसके राज्यका २२ वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रंथसे मालूम होता है।

२ कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कंद वर्मा' भी था, जिसकी ओरसे 'मायि-दावोलु' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पंचास्ति-काय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओंके अनुसार यह राजा ईसाकी १ ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ जान पड़ता है।

३ देखो, विंसेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India), तृतीय संस्करण, पृ० ४७१ से ४७६।

और ३२० का मध्यवर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास बिलकुल ही अंधकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अधूरा है। उसमें शिवकोटि जैसे प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यद्यपि ज्यादा पुराना इतिहास मिलता भी नहीं, परंतु जो मिलता है और मिल सकता है उसको संकलित करनेका भी अभीतक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल और तेलगु आदि ग्रंथोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिनकी ओर अभी तक प्रायः कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिवकोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहाँपर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता हो, और यह समीकरण विशेष अनुसंधानकी अपेक्षा रखता हो। परंतु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुए, विना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटिके व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जासकता है।

---

* शिवकोटिसे मिलते जुलते शिवस्कंदवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्ब), शिवकुमार (कुन्दकुन्दका शिष्य), शिवस्कंदवर्मा हारितीपुत्र (कदम्ब), शिवस्कंद शातकर्णि (आन्ध्र), शिवमार (गंग), शिवश्री (आन्ध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। संभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिवकोटि हो।

‘राजावलिकथे’ में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावली तथा शिलालेखों आदि द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे हमारी यही राय होती है कि ‘शिवकोटि’ नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती हैं; ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी ( काशी—बनारस ) का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता । ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जँचतीं । इस कथामें लिखा है कि—

“कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करनेके लिये समर्थ ( स्निग्धादि ) भोजनोंकी सम्प्रातिका अभाव था, इस लिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चले दिये । चलते चलते वे ‘पुंण्ड्रेन्द्र नगर’ में पहुँचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुकका रूप धारण किया, परंतु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शांतिके योग्य आहारका अभाव देखा तो आप वहाँसे निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए ‘दशपुर’ नामके नगरमें पहुँचे । इस नगरमें भागवतों ( वैष्णवों ) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारि साधुओंको भक्तजनोंद्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्टाहार भेट किया जाता है, आपने बौद्ध वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लिया, परंतु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शांत करनेमें समर्थ न हो सका

१ ‘पुण्ड्र’ नाम उत्तर बंगालका है जिसे ‘पौण्ड्रवर्धन’ भी कहते हैं । ‘पुण्ड्रेन्द्र नगर’से उत्तर बंगालके इन्द्रपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है । छपेहुए ‘आराधनाकथाकोश में ऐसा ही पाठ दिया है । संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो ।

और इस लिये आप यहाँसे भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकों-में घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ आपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। इस शिवालयमें शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देख कर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शांत हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्चर्यमें डालकर शिव-को भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्णैः कुंभशतैर्युक्तं=भरे हुए सौ घड़े जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सपुर्द किया। समंतभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोंको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिक-को बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योगबलसे साक्षात् शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हें ही कराया है। इससे राजाकी भक्ति बढ़ी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शांत हो गई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जानेके कारण वह सबका सब नैवेद्य प्रायः ज्योंका त्यों बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही यह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण

पूछा । उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता । मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिनसूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवलज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं । यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव ( शिवलिंग ) विदीर्ण हो जायगा—खंड खंड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूँ'। इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—'यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्यको जरूर देखना है । समंतभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया । राजाने 'एवमस्तु' कह कर उन्हें मंदिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया । दो पहर रात बीतने पर समंतभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया । वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समंतभद्रको आश्वासन दिया और यह कह कर चली गई कि तुम "**स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले**" इस पदसे प्रारंभ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा । समंतभद्रको इस दिव्यदर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये । सबेरे ( प्रभातसमय ) राजा आया और उसने वही नमस्कारद्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही । इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारंभ किया । जिसवक्त 'चंद्रप्रभ' भगवानकी स्तुति करते हुए '**तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं**' यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिवलिंग' खण्ड खण्ड हो गया और उस स्थानसे '**चंद्रप्रभ**' भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान्

जयकोलाहलके साथ प्रकट हुई । यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महा सामर्थ्यवान् अव्यक्तलिंगी कौन हैं ? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

> कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिंडः
> पुंड्रोण्ड्रे (१) शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ।
> वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
> राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी ॥
> पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
> पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

इसके बाद समन्तभद्रने कुलिंगिवेष छोड़कर जैननिर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियोंको वादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की । यह सब देखकर राजाको जैनधर्ममें श्रद्धा हो गई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़कर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली* ।"

---

१ संभव है कि यह 'पुण्ड्रोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर बंगाल—और 'उड्र' उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है ।

२ कहींपर 'शशधरधवलः' भी पाठ है जिसका, अर्थ चंद्रमाके समान उज्वल होता है ।

३ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है ।

* ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उनका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर बना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको देखनेका हमें अभी तक कोई अवसर नहीं मिल सका । हालमें सुहृद्वर पं॰ नाथूरामजी प्रेमीने हमारी

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि ‘ कांची ’ जैसी राजधानीमें अथवा और भी बड़े बड़े नगरों, शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समंतभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थी जिनमें साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था और इस लिये जो घटना काशी ( बनारस ) में घटी वह वहाँ भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब संस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठाकर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता। कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे

---

प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है। आप लिखते हैं—“दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द—विशेषण अव्यय आदि—अवश्य बढ़ा दिये गये हैं। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वें श्लोकमें ‘पुण्ड्रेन्द्र नगरे’ लिखा है, परन्तु गद्यकथामें ‘पुण्ड्रनगरे’ और ‘वन्दक-लोकानां स्थाने’ की जगह ‘वन्दकानां बृहद्विहारे’ पाठ दिया है। १२ वें पद्यके ‘बौद्धलिंगकं’की जगह ‘वंदकलिंगं’ पाया जाता है। शायद ‘वंदक’ बौद्धका पर्यायशब्द हो। ‘कांच्यां नग्नाटकोऽहं’ आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है। उसमें ‘पुण्ड्रोन्द्रे’ की जगह ‘पुण्ड्रोण्ड्रे’ ‘ढक्कविषये’ की जगह ‘ठक्कविषये’ और ‘वैदिशे’ की जगह ‘वैदुषे’ इस तरह नाममात्रका अन्तर दीख पड़ता है।” ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशको प्रभाचंद्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और इस पर होनेवाले विवेचनादिको उस पर भी यथासंभव लगा लेना चाहिये।

'भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः' ऐसा सूचित किया गया है जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यह बात भी कुछ असंगतसी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल गरिष्ठ पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण शतकुंभ जितने) परिमाणमें नित्य सेवन करनेपर भी भस्माग्निको शांत होनेमें छह महीने लग गये हों। जहाँ तक हम समझते हैं और हमने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता, और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफर ही बन सकता है। इस लिये, 'राजावलिकथे' में जो पाँच दिनकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे, समंतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये हैं वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। प्रथम तो राजाकी ओरसे उस अवसरपर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढंगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा प्रार्थना करनेका था—दूसरे समंतभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जानेपर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं हैं बल्कि 'जिनोपासक' हैं, फिर भी यदि विशेष परिचयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी कह देने की जरूरत थी; परंतु उक्त दोनों पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उनमें कोई जिकर है—दोनोंमें

स्पष्ट रूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहाँ पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमणका उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समंतभद्रके इस भ्रमणका उद्देश 'वाद' था? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिका विनीत भावसे परिचयका प्रश्न हो जाने पर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने झगड़नेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है? और क्या समंतभद्र जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसरपर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था; क्यों कि उसमें अनेक स्थानोंपर समंतभद्रके अनेक वेष धारण करनेकी बातका उल्लेख है * । परंतु दूसरा पद्य तो यहाँ पर कोरा अप्रासंगिक ही है—यह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है, जैसा कि पहले 'गुणादि-परिचय'में बतलाया जा चुका है। उसमें साफ़ लिखा भी है कि मैं अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूँ जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कटस्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समंतभद्रसे यह कहलाना कि अब मैं इस करहाटक नगरमें

* यह बतलाया गया है कि "कांचीमें मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलसे मलिन था; लाम्बुशमें पाण्डुपिण्डरूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ; पुण्ड्रोड्रमें बौद्ध भिक्षुक हुआ; दशपुर नगरमें मृष्टभोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अंगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रंथवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

आया हूँ कितनी वे सिरपैरकी वात है, कितनी भारी भूल है और उससे कथामें कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पड़ता है ब्रह्म नेमिदत्त इन दोनों पुरातन पद्योंको किसी तरह कथामें संगृहीत कर देना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पद्योंके अर्थसम्बंधका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसंग पर, '**स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः**' यह लिखकर, उक्त पद्योंका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा माळूम देता है कि ब्रह्मनेमिदत्तने, राजामें जैनधर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समंतभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है; अन्यथा इतने बड़े चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांचीके वाद समंतभद्रका यह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया माळूम होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं—वहाँ; पद्यानुसार कांचीके बाद, लांबुशमें समंतभद्रके 'पाण्डुपिण्ड' रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है, और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है—परंतु इन्हें रहने दीजिये; सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह माळूम होता हो कि समंतभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी

१ कुछ जैनविद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए, 'मलमलिनतनुर्लांबुशे पाण्डुपिण्डः' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोग होनेसे' ऐसा एक गढ़वाक्य दिया है जो ठीक नहीं है। इस पद्यमें एक स्थानपर 'पाण्डु-

यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे। बहुत संभव है कि कांचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शांतिके बाद समंतभद्रने कुछ अर्सेतक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो, बल्कि लगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मोंके आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे मालूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और इसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो, अथवा यह भी हो सकता है कि उक्त पद्यमें समंतभद्रके निर्ग्रंथमुनिजीवनसे पहलेकी कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इस लिये जिनपर कोई विशेष राय कायम नहीं की जा सकती। पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओंके क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है; कहाँ कांची और कहाँ उत्तर बंगालका पुण्ड्र नगर! पुंड्रसे वाराणसी निकट, वहाँ न जाकर उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं। हमारी रायमें पहली बात ही ज्यादा संभवनीय मालूम होती है। अस्तु, इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाके उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो कांचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक व्याधिकी शांति आदिसे सम्बंध रखता है, खास-कर ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ तौरपर कांचीमें ही

---

पिण्डः' और दूसरेपर 'पाण्डुरांगः' पद आए हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था। हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने हमारे लिखनेपर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है।

भस्मक व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावलीसे भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है ।

जहाँ तक हमने इन दोनों कथाओंकी जाँच की है हमें 'राजावलिकथे' में दी हुई समंतभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता माळूम होती है— मणुवकहल्लि ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समंतभद्रका गुरुसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोड़ने और रोगोपशांतिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करनेकी प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार पानादिकका त्याग करके समंतभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चंद्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति भी करते रहना, महावीर भगवान्की स्तुतिकी समाप्तिपर चरणोंमें पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ'का नामोल्लेख, राजाके भाई 'शिवायन'का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समंतभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं, इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती हैं—प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा,

इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती हैं। नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावक-चरित'में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर'की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए, इसी तरह पर पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है। परंतु उनका वह खयाल गलत था और उसका निरसन श्रवणबेलगोलके उस मल्लिषेण-प्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका '**वंद्यो भस्मक**' नामका प्रकृत पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है—प्रभावक-चरितका निर्माणकाल वि० सं० १३३४ है और शिलालेख शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चंद्रप्रभ बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथा परसे नहीं ली गई बल्कि वह समंतभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बंध रखती है। दूसरे एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो। क्योंकि राजावलिकथे आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं

---

१ यदि प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधारपर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित'से पहलेका बना हुआ है तो यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावकचरितमें यह बात ले ली गई हो। परंतु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनोंहीके सम्बन्धमें यह कोई लाजिमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो; क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रंथकर्त्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है।

होता, और न समन्तभद्रके सम्बंधमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे हमारा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिव-कोटि' को जो वाराणसीका राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समंतभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होनेपर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो खास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बंध रखता है, और इस लिये हम यहाँपर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझते।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समंतभद्रके और भी बहुतसे शिष्य रहे होंगे, इसमें संदेह नहीं है परंतु उनके नामादिकका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इस लिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्योंके नामोंपर ही संतोष करना होगा।

समंतभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका, यद्यपि, कोई यथेष्ट साधन नहीं है, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह समय, जब कि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाहीका था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वाद-तीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे'में तपके प्रभावसे उन्हें 'चारण ऋद्धि'की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा, 'रत्नकरंडक' आदि ग्रंथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौरपर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वाद-

विद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है *। इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he ( Samantabhadra ) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith.

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्थामें घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करनेहीको थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्मके एक बहुत बड़े स्तंभ होनेवाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

यहाँ तकके इस सब कथनसे, हम समझते हैं, पाठकोंको समन्तभद्रके विषयका बहुत कुछ परिचय मिल जायगा और वे इस बातको समझनेमें अच्छी तरहसे समर्थ हो सकेंगे कि स्वामी समन्तभद्र किस टाइपके विद्वान् थे, कैसी उत्तम परिणतिको लिये हुए थे, कितने बड़े योगी अथवा महात्मा थे, और उनके द्वारा देश, धर्म तथा समाजकी कितनी सेवा हुई है। साथ ही, उन्हें अपने कर्तव्यका भी जरूर कुछ बोध होगा, अपनी त्रुटियाँ मालूम पड़ेंगी; वे अपनी असफलताओंके रहस्यको समझेंगे, स्याद्वादमार्गको पहचाननेकी ओर लगेंगे और स्वामी समन्तभद्रके आदर्शको सामने रखकर अपने जीवन, अपने सदुद्देश्यों तथा प्रयत्नोंको सफल बनानेका यत्न करेंगे। और इस तरह पर स्वामीके इस पवित्र जीवनचरित्रसे जरूर कुछ लाभ उठाएँगे।

---

* 'आभावि तीर्थंकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरंगुल-चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेलि स्याद्वाद-वादिगल् आगि समाधिय् ओडेदरु ॥'

# समय-निर्णय ।



स्वामी समंतभद्रने अपने अस्तित्वसे किस समय इस भारत-भूमिको भूषित और पवित्र किया, यह एक प्रश्न है जो अभी-तक विद्वानोंद्वारा विचारणीय चला जाता है। यहाँ पर इसी प्रश्नका कुछ विशेष विचार और निर्धार किया जाता है।

## मतान्तरविचार ।

सबसे पहले हम, इस विषयमें, दूसरे विद्वानोंके मतोंका उल्लेख करते हैं और देखते हैं कि उन्होंने अपने अपने मतको पुष्ट करनेके लिये किन किन युक्तियोंका प्रयोग किया है—

१—मिस्टर लेविस राइस साहबने, अपनी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट श्रवण-बेलगोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें, यह अनुमान किया है कि समंतभद्र ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें हुए हैं। साथ ही, यह सूचित किया है कि जैनियोंके परम्परागत कथन (Jain tradition) के अनुसार समन्तभद्रका अस्तित्वसमय शक संवत् ६० (ई० सन् १३८)* के लगभग पाया जाता है, और उसके लिये उस 'पट्टावली' को देखनेकी प्रेरणा की है जो, हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंके अनुसंधानविषयक, डाक्टर भांडारकरकी सन् १८८३–८४ की रिपोर्टमें, पृष्ठ ३२० पर प्रकाशित हुई है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जैनियोंमें जो यह कहावत प्रचलित है कि समंतभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए हैं उसे राइस साहबने प्रायः ठीक माना है, और उसीकी पुष्टिमें उन्होंने अपने अनुमानको जन्म दिया है। आपके इस अनुमानका आधार, श्रवण-

---

* 'कर्णाटकशब्दानुशासन' की भूमिकामें भी आपने यही समय दिया है।

वेलगोलके 'मल्लिषेणप्रशस्ति' नामक शिलालेख ( नं० ५४=६७ ) में, समन्तभद्रका 'सिंहनंदि' से पहले स्मरण किया जाता है। आपकी रायमें यह पूर्व स्मरण इस बातके लिये अत्यंत स्वाभाविक अनुमान है कि समंतभद्र सिंहनंदिसे अधिक अथवा अल्प समय पहले हुए हैं। ये सिंहनंदि मुनि गंगराज्य ( गंगवाड़ि ) की स्थापनामें विशेषरूपसे कारणीभूत अथवा सहायक थे, गंगवंशके प्रथम राजा कोंगुणिवर्माके गुरु थे, और इस लिये कोंगुदेशराजाक्कल् ( तामिल क्रानिकल ) आदिसे कोंगुणिवर्माका जो समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग ( A. D. 188 ) पाया जाता है वही सिंहनंदिका अस्तित्व-समय है। सिंहनंदिसे पहले स्मरण किये जानेके कारण समंतभद्र सिंहनंदिसे पहले हुए हैं, और इसी लिये उनका अस्तित्वकाल ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दि अनुमान किया गया है। यही सब राइस साहबके अनुमानका सारांश है। *

---

१ राइस साहबको बादमें कोंगुणिवर्माका एक शिलालेख मिला है, जो शक संवत् २५ ( A. D. 103 ) का लिखा हुआ है और जिसे उन्होंने, सन् १८९४ में, नंजनगूड ताल्लुके ( मैसूर ) के शिलालेखोंमें नं० ११० पर प्रकाशित कराया है ( E. C. III )। उससे कोंगुणिवर्माका स्पष्ट समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारंभिक अथवा पूर्वभाग पाया जाता है; और इस लिये सन् १८८९ में श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंकी उक्त पुस्तकको प्रकाशित कराते हुए जो दूसरे आधारोंपर आपने यह दूसरी शताब्दिका अन्तिम भाग समय माना था उसे ठीक न समझना चाहिये।

* इस सम्बधमें राइस साहबके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

Supposing him ( समन्तभद्र ) to have preceded at a greater or less distance the guru ( सिंहनन्दि ) next mentioned, and that is the most natural inference, he

हमारी रायमें, राइस साहबका यह अनुमान निरापद अथवा युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि समन्तभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हों, और ईसाकी पहली शताब्दिके विद्वान् हों, परंतु जिस आधार पर राइस साहबने इस अनुमानकी सृष्टि की है वह सुदृढ नहीं है; उसके लिये सबसे पहले, यह सिद्ध होनेकी बड़ी जरूरत है कि उक्त शिलालेखमें जितने भी गुरुओंका उल्लेख है वह सब कालक्रमको लिये हुए है, अथवा उसमें सिंहनन्दिका समंतभद्रके बाद या उनके वंशमें होना लिखा है। परंतु ऐसा सिद्ध नहीं होता—न तो शिलालेख ही उस प्रकृतिका जान पड़ता है और न उसमें 'ततः' या 'तदन्वये' आदि शब्दोंके द्वारा सिंहनन्दिका बादमें होना सूचित किया है—उसमें कितने ही गुरुओंका स्मरण क्रम-रहित आगे पीछे भी पाया जाता है। उदाहरणके लिये '**पात्रकेसरी**' विद्यानंदको लीजिये, जिन्होंने **अकलंकदेवकी** 'अष्टशती' को अपनी 'अष्टसहस्री' द्वारा पुष्ट किया है और जो विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं। इसका स्मरण अकलंकदेवसे पहले ही नहीं, बल्कि '**श्रीवर्द्धदेव**' से भी पहले किया गया है। श्रीवर्द्धदेवकी स्तुति 'दंडी' नामक कविने भी की है, जो ईसाकी छठी शताब्दीका विद्वान् है और उसकी

might, in connection with the remarks made below, be placed in the 1st or 2nd century A. D...............

There is accordingly no reason why Sinha nandi should not be placed at the end of the 2nd century A. D.

१ पात्रकेसरी और विद्यानंद दोनों एकही व्यक्ति थे इसके लिये देखो 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रंथ, तथा वादिचन्द्रसूरिका 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक अथवा 'जैनहितैषी' भाग ९, अंक ९, पृ० ४३९–४४०। सम्यक्त्वप्रकाशके निम्न वाक्यसे ही दोनोंका एक व्यक्ति होना पाया जाता है—"तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते—।"

स्तुतिका वह पद्य उक्त शिलालेखमें दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीवर्द्धदेव बहुत पुराने आचार्य हुए हैं और वे पात्रकेसरीसे कई सौ वर्ष पहले हो गये हैं। फिर भी पात्रकेसरीका स्मरण उनसे भी पहले किया जाना इस बातको स्पष्ट सूचित करता है कि उक्त शिलालेखमें कालक्रमसे गुरुओंके स्मरणका कोई नियम नहीं रक्खा गया है, और इसलिये शिलालेखमें समन्तभद्रका नाम सिंहनन्दिसे पहले लिये जानेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि समंतभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हैं। रही 'पट्टावली'की बात सो यद्यपि वह हमारे सामने नहीं है फिर भी इतना जरूर कह सकते हैं कि आम तौरपर पट्टावलियाँ प्रायः प्रचलित प्रवादों अथवा दंतकथाओं आदिके आधारपर पीछेसे लिखी गई हैं, उनमें प्रमाणवाक्यों तथा युक्तियोंका अभाव है, और इसलिये केवल उन्हींके आधार पर ऐसे जटिल प्रश्नोंका निर्णय नहीं किया जा सकता —वे अधिक प्राचीन गुरुओंके क्रम और समयके विषयमें प्रायः अपर्याप्त हैं।

२—'कर्णाटक-कवि-चरिते' नामक कनड़ी ग्रंथके रचयिता (मेसर्स आर० एण्ड एस० जी० नरसिंहाचार्य) का अनुमान है कि समंतभद्र शक संवत ६० (ई० सन् १३८) के लगभग हो गये हैं, ऐसा पंडित नाथूरामजीने, अपनी 'कर्णाटक-जैन-कवि' नामक पुस्तकमें सूचित किया है, जो प्रायः उक्त कनड़ी ग्रंथके आधारपर लिखी गई है। परंतु किस आधारपर उनका ऐसा अनुमान है, इसका कोई उल्लेख नहीं किया। जान पड़ता है उक्त पट्टावलीके आधारपर अथवा लेविस राइसके कथनानुसार ही उन्होंने समंतभद्रका वह समय लिख दिया है, उसके लिये स्वयं कोई विशेष अनुसंधान नहीं किया। यही वजह है जो बादको मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहबने, अपने कनड़ी-साहित्यके इतिहास (History of Kanarese literature) में,

जिसे उन्होंने उक्त लेविस राइस साहबके ग्रंथों और 'कर्णाटककवि-चरिते' के आधारपर लिखा है, समंतभद्रके अस्तित्वकालविषयमें सिर्फ इतना ही सूचित किया है कि जैनियोंकी रिवायत (लोककथा) के अनुसार वे दूसरी शताब्दीके विद्वानोंमेंसे हैं * ।

३—श्रीयुत एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर, एम० ए० ने, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें, लिखा है कि "समन्तभद्र उन प्रख्यात दिगम्बर ( जैन ) लेखकोंकी श्रेणीमें सबसे प्रथम थे जिन्होंने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें महान् प्राधान्य प्राप्त किया है ।" इससे स्पष्ट है कि आपने समन्तभद्रको प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीन और उनके राज्यमें विशेषरूपसे लब्धख्याति माना है । परन्तु प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे कौनसे राजाके समयमें समंतभद्र हुए हैं, यह कुछ नहीं लिखा और न यही सूचित किया कि आपका यह सब कथन किस आधारपर अवलम्बित है, जिससे उसपर विशेष विचारको अवसर मिलता । आपने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके नाम भी नहीं दिये और न यही प्रकट किया कि उनका काल कबसे कबतक रहा है । राष्ट्रकूटोंके जिस कालका आपने उल्लेख किया है और जिसके साथमें 'प्राचीन' ( अर्ली ) विशेषणका भी कोई प्रयोग नहीं किया गया वह ईसवी सन् ७५० से प्रारंभ होकर ९७३ पर समाप्त

* Samanta-bhadra is by Jain tradition placed in the second century.

१ This Samantabhadra was the first of a series of celebrated Digambara writers who acquired considerable predominance, in the early Rashtrakut period.

होता है । यह काल, इतिहासमें, राष्टकूट राजा 'दन्तिदुर्ग' से प्रारंभ होता है और यहींसे राष्ट्रकूटोंके विशेष उदयका उल्लेख मिलता है। इससे पहले इन्द्र ( द्वितीय ), कर्क ( प्रथम ), और गोविन्द ( प्रथम ) नामके तीन राजा और भी हो गये हैं, जिनके राज्यकालादिकका कोई विशेष पता नहीं चलता। माळूम होता है उनका राज्य एक ही क्रमसे नहीं रहा और न वे कोई विशेष प्रभावशाली राजा ही हुए हैं। डाक्टर आर० जी० भाण्डारकरने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी ऑफ डेक्कन' में, उस वक्त तकके मिले हुए दानपत्रोंके आधार पर उक्त गोविन्द (प्रथम) को इस वंशका सबसे प्राचीन राजा बतलाया है * । साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'आइहोले' के रविकीर्तिवाले शिलालेख ( शक सं० ५५६ ) में जिस गोविन्द राजाके विषयमें यह उल्लेख है कि उसने चालुक्यनृप पुलकेशी ( द्वितीय ) पर आक्रमण किया था वह प्रायः यही गोविन्द प्रथम जान पड़ता है। ऐसी हालतमें—जब कि इस वंशके प्राचीन इतिहासका कोई ठीक पता नहीं है—यह कहना कि समंतभद्रने प्राचीन राष्ट्रकूटोंके राज्यकालमें प्राधान्य प्राप्त किया था अथवा वे उस समय लब्धप्रतिष्ठ हुए थे, युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यदि आय्यंगर महाशयके इस कथनका अभिप्राय यह मान लिया जाय कि समंतभद्र दन्तिदुर्गराजाके राज्य-कालमें हुए हैं अथवा यह स्वीकार किया जाय कि वे गोविन्द प्रथमके समकालीन थे और इसलिये उनका अस्तित्वसमय, भांडारकर महोदयकी सूचनानुसार, वही शक संवत्

१ द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६२, 'गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस,' बम्बईद्वारा सन् १८९५ सन १८९५ का छपा हुआ ।

* The earliest prince of the dynasty mentioned in the grants hitherto discovered is Govinda I.

५५६ (ई० सन् ६३४) है जो रविकीर्तिके उक्त शिलालेखका समय है, तो यह बात आपके उस कथनके विरुद्ध पड़ती है जिसमें आपने, पुस्तकके पृष्ठ ३०–३१ पर, यह सूचित करते हुए कि समंतभद्रके बाद बहुतसे जैन मुनियोंने अन्यधर्मावलम्बियोंको स्वधर्मानुयायी बनानेके कार्य (the work of proselytism) को अपने हाथमें लिया है, उन मुनियोंमें, प्रधान उदाहरणके तौर पर, सबसे पहले गंगवाड़ि (गंगराज्य) के संस्थापक 'सिंहनंदि' मुनिका और उसके बाद 'पूज्यपाद,' 'अकलंकदेव'के नामोंका उल्लेख किया है। क्योंकि सिंहनंदिमुनिका अस्तित्वसमय जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है, कोंगुणिवर्माके साथ साथ ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारंभिक अथवा पूर्व*भाग माना जाता है और पूज्यपाद भी गोविन्द प्रथमके उक्त समयसे प्रायः एक शताब्दी पहले हुए हैं। इसलिये या तो यही कहना चाहिये कि समंतभद्र सिंहनंदिसे पहले (ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें) हुए हैं और या यही प्रतिपादन करना चाहिये कि वे प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीन (ईसाकी प्रायः सातवीं शताब्दीके पूर्वार्ध अथवा आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धवर्ती) थे। दोनों बातें एकत्र नहीं बन सकतीं। जहाँ तक हम समझते हैं आय्यंगर महाशयने भी लेविस राइस साहबके अनुसार, समंतभद्रका अस्तित्वसमय सिंहनंदिसे पहले ही माना है और प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीनवाला उनका उल्लेख किसी गलती अथवा भूल पर अवलम्बित है। यही वजह है जो उन्होंने वहाँ पर शक संवत ६० वाले जैनियोंके साम्प्रदायिक कथनको भी विना किसी प्रतिवादके स्थान दिया है। यदि ऐसा नहीं है, बल्कि-

* देखो पिछला वह 'फुट नोट' जिसमें कोंगुणिवर्माका समय शक सं० २५ दिया है।

सिंहनंदि और पूज्यपादसे पहले समंतभद्रको स्थापित करनेवाली बात ही उनकी गलत है, और उन्होंने वास्तवमें समंतभद्रको ईसवी सन् ७५० या उसके बादका विद्वान् माना है तो हमें इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि आपकी यह मान्यता बिलकुल ही निराधार है, जिसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं हो सकता।

४—मध्यकालीन भारतीय न्यायके इतिहास ( हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इंडियन लॉजिक') में, डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम० ए० ने अपना यह अनुमान प्रकट किया है कि समंतभद्र ईसवी सन् ६०० के करीब हुए हैं * । परंतु आपके इस अनुमानका क्या आधार है अथवा किन युक्तियोंके बल पर आप ऐसा अनुमान करनेके लिये बाध्य हुए हैं, यह कुछ भी सूचित नहीं किया। हाँ, इससे पहले, इतना जरूर सूचित किया है कि समंतभद्रका उल्लेख हिन्दू-तत्त्ववेत्ता 'कुमारिल' ने भी किया है और उसके लिये डाक्टर भांडारकरकी संस्कृतग्रंथविषयक उस रिपोर्टके पृष्ठ ११८ को देखनेकी प्रेरणा की है जिसका उल्लेख हम नं० १ में कर चुके हैं। साथ ही यह प्रकट किया है कि "कुमारिल" बौद्ध तार्किक विद्वान् धर्मकीर्तिका समकालीन था और उसका जीवनकाल आमतौर पर ईसाकी ७ वीं शताब्दी माना गया है। शायद इतने परसे ही—कुमारिलके ग्रंथमें समंतभद्रका उल्लेख मिल जानेसे ही—आपने समंतभद्रको कुमारिलसे कुछ ही पहलेका विद्वान् मान लिया है। यदि ऐसा है तो

* Samantabhadra is supposed to have flourished about 600 A. D.

१ सूचित करनेकी खास जरूरत थी; क्योंकि दूसरे विद्वान् समंतभद्रका अस्तित्व समय ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दी मान रहे थे।

आपका यह मान लेना जरा भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । समंत-भद्र कुमारिलसे अधिक समय पहले न होकर अल्पसमय पहले ही हुए हैं, इस बातकी उक्त उल्लेख मात्रमें क्या गारंटी है ? इस बातको सिद्ध करनेके लिये तो विशेष प्रमाणोंकी आवश्यकता थी, जिनका उक्त पुस्तकमें अभाव पाया जाता है ।

धर्मकीर्तिके प्रकरणमें, विद्याभूषणजीने धर्मकीर्तिका स्पष्ट समय (संभवतः धर्मकीर्तिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहनेका समय) ई० सन् ६३५ से ६५० के लगभग बतलाया है और इस समयकी पुष्टिमें तीन बातोंका उल्लेख किया है—एक तो यह कि धर्मकीर्तिका गुरु धर्मपाल ई० सन् ६३५ में जीवित था, इसी सन् तक उसके अस्तित्वका पता चलता है, इससे धर्मकीर्ति भी उस समयके करीब मौजूद होना चाहिये; दूसरे यह कि धर्मकीर्ति तिब्बतके राजा 'स्रोण्-त्सन्-गम्पो' का समकालीन था, जिसका अस्तित्व समय ई० सन् ६२७ से ६९८ तक पाया जाता है, और इस समयके साथ धर्मकीर्तिका समय अनुकूल पड़ता है; तीसरे यह कि 'इ-त्सिंग्' नामक चीनी यात्रीने ई० सन् ६७१ से ६९५ के मध्यवर्ती समयमें भारतकी यात्रा की है; वह (अपने यात्रा-वृत्तान्तमें) बड़ी खूबीके साथ इस बातको प्रकट करता है कि किस तरह पर 'दिग्नाग'के बाद "धर्मकीर्तिने तर्कशास्त्रमें और अधिक उन्नति की है ।" इसके सिवाय धर्मकीर्तिकी बौद्ध दीक्षाके बाद, विद्याभूषणजीने यह भी प्रकट किया है कि धर्मकीर्तिने तीर्थदर्शन ( Tirtha

१ इसी सन् ६३५ में; चीनी यात्री ह्वेनत्संग जब नालंदाके विश्वविद्यालयमें पहुँचा तो वहाँ उक्त धर्मपालकी जगह, प्रधान पदपर, उनका एक शिष्य शीलभद्र प्रतिष्ठित हो चुका था; ऐसा विद्याभूषणजीकी उक्त पुस्तकसे पाया जाता है ।

लिये हुए माळूम नहीं होता—जिसका एक उदाहरण न्यायदीपिकाके कर्ता 'धर्मभूषण' का समय है । आपने धर्मभूषणका समय ई० सन् १६०० के करीब दिया है परंतु उनकी न्यायदीपिका शक संवत् १३०७ में लिखी गई है, ऐसा प्रो० के० बी० पाठकने, 'साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स जिल्द १ली, पृष्ठ १५६' के आधार पर अपने उक्त निबंधमें सूचित किया है । ऐसी हालतमें आपको धर्मभूषणका समय ई० सन् १३८५, या '१४०० के करीब' देना चाहिये था; परंतु ऐसा न करके आपने धर्मभूषणको उनके असली समयसे एकदम २०० वर्ष पीछेका विद्वान् करार दिया है और यह लिख दिया है कि करीब ३०० वर्ष (५३२ के स्थानमें) हुए जब उन्होंने न्यायदीपिका लिखी थी । इससे स्पष्ट है कि विद्याभूषणजीने जैन विद्वानोंका ठीक समय माळूम करनेके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया और इस लिये इस विषयमें उनका वह कथन, जो विशेष युक्तियोंको साथमें लिये हुए नहीं है, कुछ अधिक विश्वासके योग्य माळूम नहीं होता—कितने ही स्थानों पर तो वह बहुत ही भ्रमोत्पादक जान पड़ता है । समंतभद्रका अस्तित्व-विषयक कथन आपका कितना भ्रमपूर्ण है इस बातका और भी अच्छा अनुभव पाठकोंको आगे चल कर हो जायगा ।

## सिद्धसेन और न्यायावतार ।

५—कुछ विद्वानोंका खयाल है कि स्वामी समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे पहले हुए हैं । सिद्धसेन यदि विक्रमादित्य राजाकी सभाके नवरत्नोंमेंसे थे और इस लिये विक्रमकी प्रथम शताब्दीके विद्वान् समझे जाते हैं तो समंतभद्र उससे भी पहलेके—ईसाकी पहली शताब्दीसे भी पहलेके—विद्वान् होने चाहियें; क्यों कि समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डक' का निम्न पद्य सिद्धसेनके 'न्यायावतार' में उद्धृत पाया जाता है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि यह पद्य समंतभद्रके 'रत्नकरंडक' नामक उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का पद्य है, उसमें यथास्थान—यथाक्रम—मूलरूपसे पाया जाता है और उसका एक बहुत ही आवश्यक अंग है। यदि इस पद्यको उक्त ग्रंथसे निकाल दिया जाय तो उसके कथनका सिलसिला ही बिगड़ जाय। क्यों कि ग्रंथमें, जिन आप्त, आगम तपोभृत्के अष्ट अंगसहित और त्रिमूढतादिरहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उनका क्रमशः स्वरूप निर्देश करते हुए इस पद्यसे पहले आप्तका और इसके बाद तपोभृतका स्वरूप दिया है; यह पद्य यहाँ दोनोंके मध्यमें अपने स्थानपर स्थित है, और अपने विषयका एक ही पद्य है। प्रत्युत इसके, न्यायावतारमें इस पद्यकी स्थिति बहुत ही संदिग्ध जान पड़ती है। यह उसका कोई आवश्यक अंग माळूम नहीं होता, और न इसको निकाल देनेसे वहाँ ग्रंथके सिलसिलेमें अथवा उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई बाधा आती है[1]। ग्रंथमें परोक्ष प्रमाणके 'अनुमान' और 'शाब्द' ऐसे दो भेदोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्थन करनेके बाद, इस पद्यसे ठीक पहले 'शाब्द' प्रमाणके लक्षणका यह पद्य दिया हुआ है[2]—

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

---

१ यह पद्य दोनों ही ग्रंथोंमें नंबर ९ पर दिया हुआ है, और ऐसा होना आकस्मिक घटनाका परिणाम है।

२ टीकामें इस पद्यसे पहले यह प्रस्तावना वाक्य दिया हुआ है—

System) के गुप्ततत्त्वका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छासे एक गुलामके वेषमें दक्षिणकी यात्रा की, वहाँ यह मालूम करके कि कुमारिल ब्राह्मण इस विषयका अद्वितीय विद्वान् है, अपने आपको उसकी सेवामें रक्खा और अपनी सेवासे उसे प्रसन्न करके उससे उक्त दर्शनके गुप्त सिद्धान्तोंको मालूम किया। इस सब कथनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि धर्मकीर्ति ६३५से पहले ही कुमारिलकी सेवामें पहुँच गये थे, और उस समय कुमारिल वृद्ध नहीं तो प्रायः ४० वर्षकी अवस्थाके अवश्य होंगे। ऐसी हालतमें कुमारिलका समय पीछेकी ओर ई० सन् ६००के करीब पहुँच जाता है, और यही समय, ऊपर, समन्तभद्रका बतलाया गया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि विद्याभूषणजीने, वास्तवमें, समंतभद्र और कुमारिलको प्रायः समकालीन ठहराया है। परंतु कुमारिलने, अपने 'श्लोकवार्तिक' में, अकलंकदेवके 'अष्टशती' ग्रंथ पर, उसके 'आज्ञाप्रधाना हि....' इत्यादि वाक्योंको लेकर, कुछ कटाक्ष किये हैं, ऐसा प्रोफेसर के० बी० पाठक 'दिगम्बरजैनसाहित्यमें कुमारिलका स्थान' नामक अपने निबंधमें, सूचित करते हैं और साथ ही यह प्रकट करते हैं कि कुमारिल अकलंकसे कुछ बाद तक जीवित रहा है, इसीसे जो आक्षेप अष्टशतीके वाक्योंपर कुमारिलने किये उनके निराकरणका अवसर स्वयं अकलंकको नहीं मिल सका, वह काम बादमें अकलंकके शिष्यों ( विद्यानंद और प्रभाचंद्र ) को करना पड़ा। उक्त 'अष्टशती' ग्रंथ समंतभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य है, यह पहले जाहिर किया[1] जा चुका है। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समंतभद्रके एक ग्रंथके ऊपर कई शताब्दी पीछेके बने हुए भाष्य पर, भाष्यकारकी

---

१ 'अष्टशती' भाष्य कई शताब्दी पीछेका बना हुआ है, यह बात आगे चलकर स्वयं मालूम हो जायगी।

प्रायः वृद्धावस्थामें, जब कुमारिल कटाक्ष करता है तब वह समंतभद्रसे कितने पीछेका विद्वान् है और उसे समंतभद्रके प्रायः समकालीन ठहराना कहाँ तक युक्तिसंगत हो सकता है। जान पड़ता है विद्याभूषणजीको कुमारिलके उक्त 'श्लोकवार्तिक' को देखनेका अवसर ही नहीं मिला। यही वजह है जो वे अकलंकदेवको कुमारिलसे भी पीछेका—ईसवी सन् ७५० के करीबका—विद्वान् लिख गये हैं। यदि उन्होंने उक्त ग्रंथ देखा होता तो वे अकलंकदेवका समय ७५० की जगह ६४० के करीब लिखते, और तब आपका वह कथन 'अकलंकचरित' के निम्न पद्यके प्रायः अनुकूल जान पड़ता, जिसमें लिखा है कि 'विक्रम संवत् ७०० (ई० सन् ६४३) में अकलंक यतिका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है—

विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि।
कालेऽकलंक-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

और भी कितने ही जैन विद्वानोंके विषयमें विद्याभूषणजीके समय-निरूपणका प्रायः ऐसा ही हाल है—वह किसी विशेष अनुसंधानको

---

१ कुछ विद्वानोंने अकलंकदेवके 'राजन्साहसतुंग' इत्यादि पद्यमें आए हुए 'साहसतुंग' राजाका राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथम (शुभतुंग) के साथ समीकरण करके, अकलंकदेवको उसके समकालीन—ईसाकी आठवीं शताब्दीके प्रायः उत्तरार्धका—विद्वान् माना है; परंतु कुमारिल यदि डा० सतीशचंद्रके कथनानुसार धर्मकीर्तिका समकालीन था तो अकलंकदेवके अस्तित्वका समय यह वि० सं० ७०० ही ठीक जान पड़ता है, और तब यह कहना होगा कि 'साहसतुंग' का कृष्णराजके साथ जो समीकरण किया गया है वह ठीक नहीं है। लेविस राइसने ऐसा समीकरण न करके अपनेको साहसतुंगके पहचाननेमें असमर्थ बतलाया है।

२ यह पद्य, 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट श्रवणबेल्गोल' (एपिग्रेफिया कर्णाटिका जिल्द दूसरी) के द्वितीयसंस्करण, (सन् १९२३) की प्रस्तावनामें, मि० आर० नरसिंहाचार्यके द्वारा उक्त आशयके साथ उद्धृत किया गया है।

इस पद्यकी उपस्थितिमें इसके बादका उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र ( आगम ) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणोंसे व्यर्थ पड़ता है । प्रथम तो, उसमें शास्त्रका लक्षण आगमप्रमाणरूपसे नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगम प्रमाण अथवा शाब्दप्रमाण कहलाता है—बल्कि सामान्यतया आगम पदार्थके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है, जिसे 'रत्नकरण्डक' में सम्यग्दर्शनका विषय बतलाया गया है । दूसरे, शाब्दप्रमाणसे शास्त्रप्रमाण कोई भिन्नवस्तु भी नहीं है, जिसकी शाब्द प्रमाणके बाद पृथक् रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत होती, बल्कि उसीमें अंतर्भूत है । टीकाकारने भी, शाब्दके **'लौकिक'** और **'शास्त्रज'** ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनोंका ही लक्षण इस आठवें पद्यमें आगया है;*इससे ९ वें पद्यमें शाब्दके 'शास्त्रज' भेदका उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट हो जाता है । तीसरे, ग्रंथ भरमें इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम' शब्दका कहीं प्रयोग नहीं हुआ जिसके स्वरूपका प्रतिपादक ही यह ९ वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नामके भेदका ही मूल ग्रंथमें कोई निर्देश है जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षण प्रतिपादक यह पद्य हो सकता; चौथे यदि यह कहा जाय

---

" तदेवं स्वार्थानुमानलक्षणं प्रतिपाद्य तद्वतां भ्रान्तताविप्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादितपदार्थानुमानलक्षण एवाल्पवक्तव्यत्वात् तावच्छाब्दलक्षणमाह " ।

१ स्वपराभासी निर्वाध ज्ञानको ही 'न्यायावतार' के प्रथम पद्यमें प्रमाणका लक्षण बतलाया है, इस लिये प्रमाणके प्रत्येक भेदमें उसकी व्याप्ति होनी चाहिये ।

* 'शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति । तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं प्रतिपादितम् ।

कि ८ वें पद्यमें 'शाब्द' प्रमाणको जिस वाक्यसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है उसीका 'शास्त्र' नामसे अगले पद्यमें स्वरूप दिया गया है तो यह बात भी नहीं बनती; क्यों कि ८ वें पद्यमें ही 'दृष्टेष्टाव्याहत' आदि विशेषणोंके द्वारा वाक्यका स्वरूप दे दिया गया है और वह स्वरूप अगले पद्यमें दिये हुए शास्त्रके स्वरूपसे प्रायः मिलता जुलता है—उसके 'दृष्टेष्टाव्याहत' का 'अदृष्टेष्टविरोधक' के साथ साम्य है और उसमें 'अनुल्लंघ्य' तथा 'आप्तोपज्ञ' विशेषणोंका भी समावेश हो सकता है, 'परमार्थाभिधायि' विशेषण 'कापथघट्टन' और 'सार्व' विशेषणोंके भावका द्योतक है, और शाब्दप्रमाणको 'तत्त्वग्राहितयोत्पन्न' प्रतिपादन करनेसे यह स्पष्ट ध्वनित है कि वह वाक्य 'तत्त्वोपदेशकृत्' माना गया है—इस तरह पर दोनों पद्योंमें परस्पर बहुत कुछ साम्य पाया जाता है । ऐसी हालतमें ग्रंथकारके लिये एक ही बातकी व्यर्थ पुनरुक्ति करनेकी कोई वजह नहीं हो सकती, खासकर ऐसे ग्रंथमें जो सूत्ररूपसे ऊँचे तुले शब्दोंमें लिखा जाता हो । पाँचवें, ग्रंथकारने स्वयं अगले पद्यमें वाक्यको उपचारसे 'परार्थानुमान' बतलाया है; यथा—

स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥ १० ॥

इन सब बातों अथवा कारणोंके समुच्चयसे यह स्पष्ट है कि 'न्यायावतार' में 'आप्तोपज्ञ' नामक पद्यकी स्थिति बहुत ही संदिग्ध है, वह मूल ग्रंथकारका पद्य मालूम नहीं होता, उसे मूल ग्रंथकारविरचित ग्रंथका आवश्यक अंग माननेसे पूर्वोत्तर पद्योंके मध्यमें उसकी स्थिति व्यर्थ पड़ जाती है, ग्रंथकी प्रतिपादनशैली भी उसे स्वीकार नहीं करती,

९

और इस लिये वह अवश्य ही एक उद्धृत पद्य जान पड़ता है। टीकाकारने उसे देनेसे पहले, शब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज'[1] ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, प्रस्तावनारूपसे जो यह लिखा है कि 'जिस प्रकारके शास्त्रसे उत्पन्न हुआ शास्त्रज प्रमाण प्रमाणताको प्राप्त होता है उसे अब ग्रंथकार दिखलाते हैं'* वह ग्रंथके अन्य पद्योंके साथ इस पद्यका सामंजस्य स्थापित करनेके लिये टीकाकारका प्रयत्न मात्र है। अन्यथा, मूल ग्रंथकारकी न तो वैसी भेदकल्पना ही माल्रम होती है, न उस प्रकारकी कल्पनाके आधारपर ग्रंथमें कथनकी कोई पद्धति ही पाई जाती है और न ८ वें पद्यमें वाक्यका स्वरूप जतला देने पर, उन्हें शास्त्रका अलग स्वरूप देनेकी कोई जरूरत ही थी। वे यदि ऐसा करते तो अन्य ग्रंथोंकी तरह अपने ग्रंथमें उस आप्तका लक्षण भी अवश्य देते जिससे शास्त्र अथवा वाक्य विशेषकी उत्पत्ति होती है और जिसके भेद तथा प्रमाणतापर उस शास्त्र या वाक्यका भेद अथवा प्रामाण्य प्राय: अवलम्बित रहता है; परंतु ग्रंथभरमें आप्तका लक्षण तो क्या, उसके सामान्यस्वरूपका प्रतिपादक मंगलाचरण तक भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्रंथकारने इस प्रकारकी कल्पनाओं और विशेष कथनोंसे

---

१ 'लौकिक' के साथ शास्त्रज नामका भेद कुछ अच्छा तथा संगत भी माल्रम नहीं होता, वह 'लोकोत्तर' होना चाहिए था। 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थमें जिस आप्तके वचनको आगम बतलाया गया है उसके लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद किये हैं ( स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च ) और इस लिये आप्तवाक्य तथा आप्तवाक्यसे उत्पन्न होनेवाले शाब्द प्रमाण या आगम प्रमाणके भी वे ही दो भेद लौकिक और लोकोत्तर होने चाहिये थे। यहाँ शास्त्रज ऐसा नामभेद केवल अगले पद्यकी ग्रंथके साथ संगति विठलानेके लिये ही टीकाकारद्वारा कल्पित हुआ जान पड़ता है।

* 'यादृश· शास्त्रात्तज्जातं प्रमाणतामनुभवति तद्दर्शयति।'

अपने ग्रंथको प्रायः अलग रक्खा है, उन्होंने सामान्यरूपसे प्रमाणनयकी उस प्रसिद्ध व्यवस्थाका ही इस ग्रंथमें कीर्तन किया है जिसे सब लोग व्यवहारमें लाते हैं ×, और इस लिये भी यह पद्य ग्रंथमें उद्धृत ही जान पड़ता है। यदि सचमुच ही ग्रंथकारने, ग्रंथके आठवें पद्यमें दिये हुए वाक्यके स्वरूपका समर्थन करनेके लिये इस पद्यको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया है तो इस कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि सिद्धसेन अवश्य ही समंतभद्रके बाद हुए हैं। परंतु, जहाँ तक हम समझते हैं, सिद्धसेन दिवाकर जिस टाइपके विद्वान् थे और जिस ढंग (पद्धति) से उन्होंने अपने ग्रंथको प्रारंभ और समाप्त किया है उस परसे सिद्धसेन द्वारा इस पद्यके उद्धृत किये जानेकी बहुत ही कम संभावना पाई जाती है—इस बातका खयाल भी नहीं होता कि सिद्धसेन जैसे विद्वानने अपने ऐसे छोटेसे सूत्रग्रंथमें, एक दूसरे विद्वानके वाक्यको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत करना उचित समझा हो। हमारी रायमें यह पद्य या तो ग्रंथकी किसी दूसरी पुरानी टीकामें, 'वाक्य'की व्याख्या करते हुए, उद्धृत किया गया है और या किसी विद्वानने ८ वें अथवा १० वें पद्यमें आए हुए 'वाक्य' शब्दपर टिप्पणी देते हुए वहाँ उद्धृत किया है, और उसी टीका या टिप्पणवाली प्रतिपरसे मूल ग्रंथकी नकल उतारते हुए, लेखकोंकी असावधानी अथवा नासमझीसे, यह ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो गया है और ग्रंथका एक अंग बन गया है। किसी पद्यका इस तरह पर प्रक्षिप्त होना कोई असाधारण बात नहीं है—बहुधा ग्रंथोंमें इस प्रकारसे प्रक्षिप्त हुए पद्योंके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं। इस

×—प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका ।
सर्वसंव्यवहर्तॄणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥

लिये, 'न्यायावतार' में इस पद्यकी स्थिति आदिको देखते हुए हमारी यही राय होती है कि यह पद्य वहाँपर क्षेपक है, और ग्रंथकी वर्तमान टीकासे, जिसे कुछ विद्वान् चंद्रप्रभसूरि (वि० सं० ११५९) की और कुछ सिद्धर्षि (सं० ९६२) की बनाई हुई कहते हैं, पहले ही ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो चुका है। अस्तु। इस पद्यके 'क्षेपक' करार दिये जानेपर ग्रंथके पद्योंकी संख्या ३१ रह जाती है। इसपर कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि सिद्धसेनकी बाबत कहा जाता है कि उन्होंने 'द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका' नामसे ३२ स्तुतियाँ लिखी हैं, जिनमेंसे प्रत्येककी श्लोकसंख्या ३२ है, न्यायावतार भी उन्हींमेंसे एक स्तुति है*—द्वात्रिंशिका है—उसकी पद्यसंख्या भी ३२ ही होनी चाहिये और इस लिये उक्त पद्यको क्षेपक माननेसे ग्रंथके परिमाणमें बाधा आती है। परंतु इस प्रकारकी आपत्तिके लिये वास्तवमें कोई स्थान नहीं। प्रथम तो 'न्यायावतार' कोई स्तुतिग्रंथ ही नहीं है, उसमें मंगलाचरण तक भी नहीं और न परमात्माको सम्बोधन करके ही कोई कथन किया गया है; दूसरे, इस बातका कोई प्राचीन (टीकासे पहलेका) उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह पाया जाता हो कि न्यायावतार 'द्वात्रिंशिका' है अथवा उसके श्लोकोंकी नियतसंख्या ३२ है; और तीसरे, सिद्धसेनकी जो २० अथवा २१

* "ए शिवाय पण 'द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका' ए स्तुतिसंग्रह ग्रंथ रच्यो छे, तेमांनो न्यायावतार एक स्तुतिरूप ग्रंथ छे।" ऐसा न्यायावतार सटीककी प्रस्तावनामें लेरुभाई भोगीलालजी, सेक्रेटरी 'हेमचंद्राचार्यसभा' पट्टनने प्रतिपादन किया है।

१ सिद्धसेन दिवाकरकी आम तौरपर २० द्वात्रिंशिकाएँ एकत्र मिलती हैं, सिर्फ एक प्रतिमें २१ वीं द्वात्रिंशिका भी साथ मिली है, ऐसा प्रकाशकोंने सूचित किया है; और वह २१ वीं द्वात्रिंशिका अपने साहित्य परसे संदिग्ध जान पड़ती है; इसी लिये यहाँपर 'अथवा' शब्दका प्रयोग किया गया है।

'द्वात्रिंशिकाएँ' मिलती हैं उन सबमें ३२ पद्योंका कोई नियम नहीं देखा जाता—आठवीं द्वात्रिंशिकामें २६, ग्यारहवींमें २८, पंद्रहवींमें ३१, उन्नीसवींमें भी ३१, दसवींमें ३४ और इक्कीसवींमें ३३ पद्य पाये जाते हैं *। ऐसी हालतमें 'न्यायावतार'के लिये ३२ पद्योंका कोई आग्रह नहीं किया जा सकता, और न यही कहा जा सकता है कि ३१ पद्योंसे उसके परिमाणमें कोई बाधा आती है।

अब देखना चाहिये कि सिद्धसेन दिवाकर कब हुए हैं और समंतभद्र उनसे पहले हुए या कि नहीं। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर उज्जयिनीके राजा विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमेंसे एक रत्न थे, और उन नवरत्नोंके नामोंके लिये 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथका निम्न पद्य पेश किया जाता है—

धन्वंतरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुर्वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वाराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव-
विक्रमस्य ॥

इस पद्यमें, यद्यपि, 'सिद्धसेन' नामका कोई उल्लेख नहीं है परन्तु 'क्षपणक' नामके जिस विद्वानका उल्लेख है उसीको 'सिद्धसेन दिवाकर' बतलाया जाता है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण तो, इस विषयमें अपनी मान्यताका उल्लेख करते हुए, यहाँ तक लिखते हैं कि 'जिस क्षपणक (जैनसाधु) को हिन्दूलोग विक्रमादित्यकी सभाको भूषित करनेवाले नवरत्नोंमेंसे एक रत्न समझते हैं वह सिद्धसेनके सिवाय

* देखो 'श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृत ग्रंथमाला' जिसे 'जैनधर्मप्रसारक सभा' भावनगरने वि० सं० १९६५ में छपाकर प्रकाशित किया।

दूसरा कोई विद्वान् नहीं था' * । साथ ही, प्रकट करते हैं कि बौद्ध ग्रंथोंमें भी जैनसाधुओंको 'क्षपणक' नामसे नामांकित किया है, प्रमाणके लिये 'अवदानकल्पलता' के दो पद्य + भी उद्धृत किये हैं, और इस तरह पर यह सूचित किया है कि उक्त 'क्षपणक' नामका विद्वान् बौद्ध-भिक्षु नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि 'क्षपणक' जैन-साधुको कहते हैं। यदि वास्तवमें सिद्धसेन विक्रमादित्यकी सभाके ये ही क्षपणक विद्वान् थे और इस लिये वराहमिहिरके समकालीन थे तो उनका समय ईसाकी प्रायः छठी शताब्दी जान पड़ता है। क्यों कि वराहमिहिरका अस्तित्व समय ई० सन् ५०५ से ५८७ तक पाया जाता है—उसने अपनी ज्योतिषगणनाके लिये शक सं० ४२७ (ई० सन् ५०५) को अब्दपिण्डके तौरपर पसंद किया था ×

---

* I am inclined to believe that Sidhasen was no other than Kshapnaka (a jain sage) who is traditionally known to the Hindus to have been one of the nine gems that adorned the court of Vikramaditya, (H. M. S. Indian Lojic p. 15.)

+ वे पद्य इस प्रकार हैं—

भगवद्भाषितं तत्तु सुभद्रेण निवेदितम् ।
श्रुत्वा क्षपणकः क्षिप्रमभूद्द्वेषविपाकुलः ॥ ९ ॥
तस्य सर्वज्ञतां वेत्ति सुभद्रो यदि मद्गिरा ।
तदेष क्षपणश्रद्धां त्यक्ष्यति श्रमणादरात् ॥

—अ०, ज्योतिष्कावदान ।

× देखो डा० सतीशचंद्रकी न्यायावतारकी प्रस्तावना और 'हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक,' जिनमें आपने वराहमिहिरकी 'पंचसिद्धान्तिका' का यह पद्य भी उद्धृत किया है—

और ई० सन् ५८७ में उसका देहान्त हो चुका था। इसी लिये डाक्टर सतीशचंद्रने, अपनी 'मध्यकालीन न्याय' के इतिहासकी पुस्तकमें, सिद्धसेनको ई० सन् ५३३ के करीबका और न्यायावतारकी प्रस्तावनामें, सन् ५५० के करीबका विद्वान् माना है, और उज्जयिनीके विक्रमादित्यके विषयमें, उन विद्वानोंकी रायको स्वीकार किया है जिन्होंने विक्रमादित्य * का समीकरण मालवाके उस राजा यशोधर्मदेवके साथ किया है जिसने, अल्बेरूनीके कथनानुसार, ई० सन् ५३३ में कोरूर (Korur) स्थान पर हूणोंको परास्त किया था। ऐसी हालतमें, यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् नहीं थे, बल्कि उसकी छठी शताब्दी अथवा ईसाकी पाँचवीं और छठी शताब्दीके विद्वान् थे। इस विषयमें, मुनि जिनविजयजी जैनसाहित्यसंशोधक-द्वितीय अंकके पृष्ठ ८२ पर, लिखते हैं—

"सिद्धसेन ईसाकी ६ ठी शताब्दीसे बहुत पहले हो गये हैं। क्योंकि विक्रमकी पांचवीं शताब्दीमें हो जानेवाले आचार्य मल्लवादीने सिद्धसेनके सम्मतितर्क ऊपर टीका लिखी थी। हमारे विचारसे सिद्धसेन विक्रमकी प्रथम शताब्दिमें हुए हैं।"

---

सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥ ८ ॥

१ देखो विन्सेण्ट स्मिथकी 'अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया' तृ० सं०, पृ० ३०५.

* 'विक्रमादित्य' नामके-इस उपाधिके धारक-कितने ही राजा हो गये हैं। गुप्तवंशके चंद्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त खास तौर पर 'विक्रमादित्य' प्रसिद्ध थे। इनके और इनके मध्यवर्ती कुमारगुप्तके राज्यकालमें ही-ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें-'कालिदास' नामके उन सुप्रसिद्ध विद्वान्का होना, मिस्टर वह-रीकानके, पाया जाता है जिन्हें विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमें परिगणित किया गया है ( वि० ए० स्मिथकी अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, तृ० संस्करण,

यह ठीक है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आचार्य मल्लवादीको वीर-संवत् ८८४ का विद्वान् लिखा है+और उसीको लेकर मुनिजीने उन्हें विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् प्रतिपादन किया है। परन्तु आचार्य मल्लवादीने बौद्धाचार्य 'धर्मोत्तर'की 'न्यायविन्दु-टीका'[1] पर 'धर्मोत्तर-टिप्पणक'[2] नामका एक टिप्पण लिखा है, और आचार्य धर्मोत्तर ईसाकी ९ वीं शताब्दी ( ई० सन् ८२७–८४७ के करीब ) के विद्वान् थे, इस लिये मल्लवादीका वीरसंवत ८८४ में होना असंभव है; ऐसा डाक्टर सतीशचंद्र अपने मध्यकालीन न्यायके इतिहासमें, सूचित करते हैं। साथ ही, यह प्रकट करते हैं कि यह संवत् ८८४, वीर संवत् न होकर, या तो विक्रम संवत् है और या शकसंवत्। विक्रम संवत् ( ई० सन् ८२७ ) की हालतमें मल्लवादी धर्मोत्तरके समकालीन थे और शक संवत् ( ई० स० ९६२ ) की हालतमें वे धर्मोत्तरसे एक

पृ० ३०४ ) और मुनि जिनविजयजीने जिनको 'सिद्धसेनके समकालीन और सहवासी महाकवि' बतलाया है ( जैनहितैषी, नवम्बर सन् १९१९ )।

+—" श्रीवीरवत्सरादथशताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चापि ॥ "

यह पद्य 'न्यायावतार–वृत्ति'की प्रस्तावनामें 'प्रभावकचरित'के नामसे उद्धृत किया है।

१ मूल ग्रंथ 'न्यायविन्दु' आचार्य 'धर्मकीर्ति' का लिखा हुआ है जो ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे। देखो सतीशचन्द्रकी हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक।

२ इस 'धर्मोत्तर-टिप्पणक' की एक प्रति ताड़पत्रोंपर अन्हिलवाड़ पाटनमें सुरक्षित है और सं० १२३१ की लिखी हुई बतलाई जाती है। उसके अन्तमें लिखा है—"इति धर्मोत्तरटिप्पनके श्रीमल्लवाद्याचार्यकृते तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः मङ्गलं महाश्रीः ॥" (History of M. S. of Indian Logic P. 34)

शताब्दी पीछेके विद्वान् समझे जाने चाहिये * । इससे, मल्लवादीके समयके आधार पर मुनिजीने जो यह प्रतिपादन किया है कि सिद्धसेन विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे पहले हुए हैं सो ठीक प्रतीत नहीं होता । और भी कोई दूसरा प्रबल प्रमाण अभी तक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जिससे सिद्धसेनका समय ईसाकी पाँचवीं छठी शताब्दीसे पहले स्थिर किया जा सके, और छठी अथवा पाँचवीं शताब्दीका समय मानने पर हमें यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे बहुत पहले हुए हैं, जैसा कि पाठकोंको आगे चलकर माछूम होगा ।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित माछूम होता है कि सिद्धसेनको विद्याभूषणजीने श्वेताम्बर संप्रदायका विद्वान् लिखा है । हमारी रायमें आपका यह लिखना केवल एक सम्प्रदायकी मान्यताका उल्लेख मात्र है, और दूसरे सम्प्रदायकी मान्यतासे अनभिज्ञताको सूचित करता है; इससे अधिक उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता । अन्यथा, जब दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्ध-

---

* देखो उक्त इतिहास ( History of the Mediaeval School of Indian Logic ) के पृष्ठ १५, १११ ।

१ वराहमिहिरके एक ग्रंथमें जब शक सं० ४२७ (ई० सन् ५०५) का उल्लेख है तो वे उसकी रचनासे प्रायः २०–२५ वर्ष पहले और भी जीवित रहे होंगे, यह स्वाभाविक है, और इस लिये उनका अस्तित्व समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका चतुर्थ चरण भी जान पड़ता है । इसके सिवाय यह भी संभव है कि वराहमिहिरकी युवावस्थाका जो प्रारंभ काल हो वह क्षपणककी वृद्धावस्थाका समय हो, इसी लिये यहाँपर पाँचवीं शताब्दीको भी सिद्धसेनके अस्तित्वके लिये ग्रहण कर लिया गया है ।

सेनकी मान्यता है, दिगम्बरोंकी पट्टावली[1]—गुरुपरम्पराओंमें[2] भी सिद्ध-सेनका नाम है, कितने ही दिगम्बर आचार्योंद्वारा[3] सिद्धसेन खास तौर पर स्तुति किये गये हैं और अपने ग्रन्थोंके साहित्य परसे भी वे खसूसियतके साथ कोई श्वेताम्बर मालूम नहीं होते तब, वैसा लिखनेके लिये आप कुछ युक्तियोंका प्रयोग जरूर करते अथवा, इस विषयमें, दोनों ही सम्प्रदायोंकी मान्यताका उल्लेख करते; परंतु इन दोनों ही बातोंका वहाँ एकदम अभाव है, और इसी लिये हमारी उपर्युक्त राय है। रहा 'क्षपणक' शब्द, वह सामान्यरूपसे जैनसाधुका बोधक होने पर भी खास तौर पर श्वेताम्बर साधुका कोई द्योतक नहीं है; प्रत्युत इसके वह बहुत प्राचीन कालसे दिगम्बर साधुओंके लिये व्यवहृत होता आया है, हिन्दुओं तथा बौद्धोंके प्राचीन ग्रंथोंमें निर्ग्रंथ—दिगम्बर साधुओंके लिये उसका प्रयोग पाया जाता है और खुद श्वेताम्बर ग्रंथोंमें भी वह दिगम्बरोंके लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

---

१ 'सेनगण' की पट्टावलीमें 'सिद्धसेन' का निम्न प्रकारसे उल्लेख पाया जाता है—

(स्वस्ति) श्रीमदुज्जायिनीमहीकालसंस्थापनमहाकाललिंगमहीधरवाग्वज्रदण्डविष्टयाविष्कृतश्रीपार्श्वतीर्थेश्वरप्रातिद्वन्द्वश्रीसिद्धसेनभट्टारकाणां ।

—जैन सि० भा०, प्रथम किरण।

२ हरिवंशपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने, अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख करते हुए उसमें, 'सिद्धसेन'का नाम भी दिया है। यथा—

'सुसिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिन-शांतिषेणकौ ।'

—हरिवंशपुराण ।

३ दिगम्बराचार्योंद्वारा की हुई स्तुतियोंके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

खोमाणराजकुलजोऽपिसमुद्रसूरि—
गॅच्छं शशास किल द्प्रवणप्रमाण (?)।
जित्वा तदा क्षपणकान्स्ववशं वितेने
नागेंद्रदे (?) भुजगनाथनमस्य तीर्थे (?)॥

यह पद्य तपगच्छकी पट्टावलिमें, जो जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स हेरॅल्ड, जिल्द ११, अंक ७–१० में मुद्रित हुई है, समुद्रसूरिके वर्णनमें दिया है। इसमें जिन क्षपणकोंको जीतनेकी बात लिखी है

---

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः॥

—हरिवंशपुराणे, श्रीजिनसेनः।

कवयः सिद्धसेनाद्याः वयं तु कवयो मताः।
मणयः पद्मरागाद्याः ननु काचोऽपि मेचकाः॥ ३२॥
प्रवादिकरियूथानां केशरी नयकेशरः।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुरः॥ ४२॥

—आदिपुराणे, भगवज्जिनसेनः।

सिद्धान्तोद्धश्रीधवंसिद्धसेनं तर्काब्जार्क भट्टपूर्वाकलंकं।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वंदे तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम्॥

नियमसारटीकायां, पद्मप्रभः।

सद्भावदातमहिमा सदाध्यानपरायणः।
सिद्धसेनमुनिर्जीयाद् भट्टारकपदेश्वरः॥

—रत्नमालायां, शिवकोटिः।

(ये 'शिवकोटि' समन्तभद्रस्वामीके शिष्य 'शिवकोटि' आचार्यसे भिन्न ।)

मदुक्तिकल्पलतिकां सिंचन्तः करुणामृतैः।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्द्धयन्तु हृदि स्थिताः॥

—यशोधरचरित्रे, कल्याणकीर्ति:।

उन्हें गुजराती परिचयमें 'दिगम्बर जती' प्रकट किया है । 'क्षपगकान्' पदसे अभिप्राय यहाँ दिगम्बर यतियोंका ही है, यह बात मुनिसुन्दर सूरिकी 'गुर्वावली' के निम्न पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है, जिसमें इसी पद्यका अर्थ अथवा भाव दिया हुआ है और 'क्षपणकान्' की जगह साफ तौरसे 'दिग्वसनान्' पदका प्रयोग किया गया है—

**खोमाणभूभृत्कुलजस्ततोऽभूत्**
**समुद्रसूरिः स्ववशं गुरुर्यः ।**
**चकार नागहृदपार्श्वतीर्थ**
**विद्याम्बुधिर्दिग्वसनान्विजित्य ॥ ३९ ॥**

इसी तरह पर 'प्रवचनपरीक्षा' आदि और भी श्वेताम्बर ग्रंथोंमें दिगम्बरोंको 'क्षपणक' लिखा है । अब एक उदाहरण दिगम्बर ग्रंथोंका भी लीजिये—

**तरुणउ[1] बूढउ रुयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।**
**खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥ ८३ ॥**

यह **योगीन्द्रदेव**कृत 'परमात्मप्रकाश' का पद्य है । इसमें निश्चय नयकी दृष्टिसे यह बतलाया गया है कि 'वह मूढात्मा है जो ( तरुण वृद्धादि अवस्थाओंके स्वरूपसे भिन्न होने पर भी विभाव परिणामोंके आश्रित होकर ) यह मानता है, कि मैं तरुण हूँ, बूढा हूँ, रूपवान् हूँ, शूर हूँ, पंडित हूँ, दिव्य हूँ, क्षपणक ( दिगम्बर ) हूँ, वंदक ( बौद्ध ) हूँ, अथवा श्वेतपट ( श्वेताम्बर ) हूँ । यहाँ **क्षपणक, वंदक** और **श्वेतपट,** तीनोंका एक साथ उल्लेख होनेसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि 'क्षपणक' शब्द दिगम्बरोंके लिये खास तौरसे व्यवहृत होता है ।

---

१ तरुणः वृद्धः रूपस्वी शूरः पंडितः दिव्यः ।
क्षपणकः वंदकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥

इसके सिवाय श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्र और दिगम्बराचार्य श्रीधरसेनने अपने अपने कोशग्रंथोंमें 'नग्न' शब्दका एक अर्थ 'क्षपणक' दिया है—

'नग्नो विवाससि मागधे च क्षपणके'। (हेमचंद्रः)

'नग्नस्त्रिषु विवस्त्रे स्यात्पुंसि क्षपणवन्दिनोः।' (श्रीधरसेनः)

और इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'क्षपणक' शब्द जब किसी साधुके लिये प्रयुक्त किया जाता है तो उसका अभिप्राय 'नग्न' अथवा दिगम्बर साधु होता है।

'क्षपणक' शब्दकी ऐसी हालत होते हुए, विक्रमादित्यकी सभाके 'क्षपणक' रत्नको श्वेताम्बर बतलाना बहुत कुछ आपत्तिके योग्य जान पड़ता है, और संदेहसे खाली नहीं है।

वास्तवमें सिद्धसेन दिगम्बर थे या श्वेताम्बर, यह एक जुदा ही विषय है और उसे हम एक स्वतंत्र लेखके द्वारा स्पष्ट कर देना चाहते हैं; अवसर मिलने पर उसके लिये जरूर यत्न किया जायगा।

## पूज्यपाद–समय।

दूसरे विद्वानोंकी युक्तियोंकी आलोचनाके बाद, अब हम देखते हैं कि स्वामी समन्तभद्र कब हुए हैं। समन्तभद्र जैनेंद्रव्याकरण और सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथोंके कर्ता 'देवनन्दि' अपरनाम 'पूज्यपाद' आचार्यसे पहले हुए हैं, यह बात निर्विवाद है। श्रवणबेलोलके शिलालेखमें भी समन्तभद्रको पूज्यपादसे पहलेका विद्वान् लिखा है। ४० वें शिलालेखम समन्तभद्रके परिचय-पद्यके बाद 'ततः' शब्द लिख-

१ टीकांशः—'खवनउ वंदउ सेवडउ' क्षपणको दिगम्बरोऽहं वंदको बौद्धोऽहं श्वेतपटादिलिंगधारकोऽहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति।........।—ब्रह्मदेवः।

२ समन्तभद्रके परिचयका यह पद्य और १०८ वें शिलालेखका पद्य भी, दोनों, 'पुरातनितिहास' में उद्धृत किये जा चुके हैं।

कर '**यो देवनन्दिप्रथमाभिधानः**' इत्यादि पद्योंके द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और १०८ वें शिलालेखमें समन्तभद्रके वाद पूज्यपादके परिचयका जो प्रथम[1] पद्य दिया है उसीमें '**ततः**' शब्दका प्रयोग किया है, और इस तरहपर पूज्यपादको समन्तभद्रके वादका विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वयं पूज्यपादने, अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें समन्तभद्रका उल्लेख किया है—

'**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**।' ५–४–१४० ॥

इन सब उल्लेखोंसे यह वात और भी स्पष्ट हो जाती है कि समन्तभद्र पूज्यपादसे पहले हुए हैं। पूज्यपादने 'पाणिनीय' व्याकरण पर '**शब्दावतार**'[2] नामका न्यास लिखा था और आप गंगराजा 'दुर्विनीत' के शिक्षागुरु ( Preceptor ) थे; ऐसा 'हेब्बूर' के ताम्रलेख, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' की कुछ जिल्दों, 'कर्णाटककविचरिते' और 'हिस्टरी ऑफ कनडीज लिटरेचर'से पाया जाता है। साथ ही यह भी माल्रूम होता है कि 'दुर्विनीत' राजाका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। इसलिये पूज्यपाद ईसवी सन् ४८२

---

१ पूज्यपादके परिचयके तीन पद्योंमें प्रथम पद्य इस प्रकार है—

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्म्मराज्यस्ततो सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीय-वैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥

२ पूज्यपाद द्वारा 'शब्दावतार' नामक न्यासके रचे जानेका हाल 'नगर' ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेख ( E. C. VIII, ) के निम्न वाक्यसे भी पाया जाता है—

न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद—
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥

से भी कुछ पहलेके विद्वान् थे, यह स्पष्ट है। डॉक्टर बूल्हरने जो आपको ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् लिखा है वह ठीक ही है। पूज्यपादके एक शिष्य 'वज्रनन्दी' ने वि० सं० ५२६ (ई० स० ४७०) में 'द्राविड' संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रंथमें मिलता है * और इससे यह मालूम होता है कि पूज्यपाद 'दुर्विनीत' राजाके पिता 'अविनीत' के राज्यकालमें भी मौजूद थे, जो ई० सन् ४३० से प्रारंभ होकर ४८२ तक पाया जाता है। साथ ही, यह भी मालूम पड़ता है कि द्राविड़ संघकी स्थापना जब पूज्यपादके एक शिष्यके द्वारा हुई है तब उसकी स्थापनाके समय पूज्यपादकी अवस्था अधिक नहीं तो ४० वर्षके करीब जरूर होगी और उन्होंने अपने ग्रंथोंकी रचनाका कार्य ई० सन् ४५० के करीब प्रारंभ किया होगा। ऐसी हालतमें, समन्तभद्र प्रायः ई० सन् ४५० से पहले हुए हैं, यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। परंतु कितने पहले हुए हैं, यह बात अभी विचारणीय है। इस प्रश्नका समुचित और यथार्थ एक उत्तर देनेमें बड़ी ही कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। यथेष्ट साधनसामग्रीकी कमी यहाँपर बहुत ही खलती है। और इसलिये, यद्यपि, इस विषयका कोई निश्चयात्मक एक

---

१ Ind. Ant., XIV, 355.

२ यह ग्रंथ वि० सं० ९९० का बना हुआ है।

*—सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४ ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥ २८ ॥

३ अविनीत राजाका एक ताम्रलेख शक सं० ३८८ (ई० सन् ४६६) का लिखा हुआ पाया जाता है जिसे मर्करा प्लेट नं० १ कहते हैं।

उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता, फिर भी विचार करते हुए इस सम्बधमें जो जो घटनाएँ सामने उपस्थित हुई हैं और उनसे जिस जिस समयका, जिस प्रकारसे अथवा जो कुछ बोध होता है उस सबको पाठकोंके सामने रख देना ही उचित माळूम देता है, जिससे पाठकजन वस्तुस्थितिको समझकर विशेष अनुसंधानद्वारा ठीक समयको माळूम करनेमें समर्थ हो सकें, अथवा लेखकको ही विशेष निर्णयके लिये कोई खास सूचना दे सकें ।

## उमास्वाति-समय ।

( क ) श्रवणबेल्गोलके शिलालेखपरसे समन्तभद्रका परिचय देते हुए, यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि समन्तभद्र 'उमास्वाति' आचार्य और उनके शिष्य 'बलाकपिच्छ' के बाद हुए हैं। यदि उमास्वातिका या उनके शिष्यका निश्चित समय माळूम होता तो उस परसे समन्तभद्रका आसन्न समय आसानीसे बतलाया जा सकता था, अथवा इतना तो सहजहीमें कहा जा सकता था कि समन्तभद्र उस समयके बाद और ई० सन् ४५० के पहले—दोनोंके मध्यवर्ती किसी समयमें—हुए हैं। परन्तु उमास्वातिका समय अभीतक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो सका—उसकी भी हालत प्रायः समन्तभद्रके समय जैसी ही है और इस लिये उमास्वातिके संदिग्ध समयके आधार पर समन्तभद्रके यथार्थ समयकी बाबत कोई जँची तुली बात नहीं कही जा सकती ।

( ख ) नन्दिसंघकी पट्टावलीमें, उमास्वातिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय वि० सं० १०१ दिया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्य पद पर रहे, उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और सं० १४२ में उनके पट्टपर लोहाचार्य

द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। श्रवणबेल्गोलके कितने ही शिलालेखोंमें उमास्वातिके प्रधान शिष्य रूपसे 'वलाकपिच्छ'का ही नाम दिया है, वलाकपिच्छकी शिष्यपरम्पराका भी उल्लेख किया है और यहाँपर उसकी जगह लोहाचार्यका नाम पाया जाता है। इसकी बाबत, यद्यपि, यह कहा जा सकता है कि वलाकपिच्छ लोहाचार्यका ही नामान्तर होगा,—जैसे उमास्वातिका नामान्तर 'गृध्रपिच्छ'—अथवा लोहाचार्य उमास्वातिके कोई दूसरे ही शिष्य होंगे परंतु फिर भी इस पट्टावलीपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। इसमें प्राचीन आचार्योंका समय और क्रम बहुत कुछ गड़बड़में पाया जाता है। उदाहरणके लिये पूज्यपाद (देवनन्दी) के समयको ही लीजिये, पट्टावलीमें वह वि० सं० २५८ से ३०८ तक दिया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि पट्टावलीमें पूज्यपादके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय ई० सन् २०० के करीब बतलाया है; परन्तु इतिहाससे जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, वह ४५० के करीब पाया जाता है, और इस लिये दोनोंमें करीब अढ़ाईसौ (२५०) वर्षका भारी अन्तर है। इतिहासमें पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिका उल्लेख मिलता है और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने वि० सं० ५२६ में 'द्राविड' संघकी स्थापना की, परन्तु पट्टावलीमें पूज्यपादके बाद दो आचार्यों (जयनन्दी और गुणनन्दी) का उल्लेख करके चौथे (१३) नम्बर पर वज्रनन्दीका नाम दिया है और साथ

१ देखो, शिलालेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८।

२ यह असली नाम मालूम भी नहीं होता; जान पड़ता है वलाक (बक, सारस) की पीछी रखनेके कारण इनका यह नाम प्रसिद्ध हुआ है। इनके गुरु गृध्रकी पीछी रखते थे। इससे मयूरकी पीछीका उस समय कोई खास आग्रह मालूम नहीं पड़ता।

ही उनका समय भी वि० सं० ३६४ से ३८६ तक बतलाया है। क्रम-भेदके साथ साथ इन दोनों समयोंमें भी परस्पर बहुत बड़ा अन्तर जान पड़ता है। इतिहाससे वसुनन्दीका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दी मालूम होता है परन्तु पट्टावलीमें ६ ठी शताब्दी (५२५–५३१) दिया है। इस तरह जाँच करनेसे बहुतसे आचार्योंका समयादिक इस पट्टावलीमें गलत पाया जाता है, जिसे विस्तारके साथ दिखलाकर यहाँ इस निबन्धको तूल देनेकी जरूरत नहीं है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह पट्टावली कितनी संदिग्धावस्थामें है और केवल इसीके आधार पर किसीके समयादिकका निर्णय कैसे किया जा सकता है। प्रोफेसर हेर्नल[1], डाक्टर पिटर्सन[2] और डा० सतीशचंद्रने[3] इस पट्टावलीके आधार पर ही उमास्वातिको ईसाकी पहली शताब्दीका विद्वान् लिखा है और उससे यह मालूम होता है कि उन्होंने इस पट्टावलीकी कोई विशेष जाँच नहीं की—वैसे ही उसके रंग-ढंगपरसे उसे ठीक मान लिया है। अस्तु; यदि पट्टावलीमें दिया हुआ उमास्वातिका समय ठीक हो तो समन्तभद्रका अस्तित्व-समय उससे प्रायः ४० वर्षके फासले पर अनुमान किया जा सकता है—यह ४० वर्षका अन्तर एकके समयारंभसे दूसरेके समयारंभ तक अथवा एककी समय-समाप्तिसे दूसरेकी समय-समाप्ति तक भी हो सकता है—और तब डा० भाण्डार-

---

१. Ind. ant., XX, P. 341, 351.

२. Peterson's fourth report on Sanskrit manuscripts P. XVI.

३. History of the Mediaeval school of Indian Logic, P. 8, 9.

करकी रिपोर्टमें समन्तभद्रका समय जो शक सं० ६० ( वि० सं० १९५ ) के करीब बतलाया गया है अथवा आम तौर पर विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है उसे भी ठीक कहा जा सकता है।

( ग ) 'विद्वज्जनबोधक' में निम्न श्लोकको उमास्वाति ( उमास्वामी ) के समयवर्णनका प्रसिद्ध श्लोक लिखा है और उसके द्वारा यह सूचित किया है कि उमास्वाति आचार्य वीरनिर्वाणसे ७७० वर्ष बाद हुए हैं अथवा ७७० वर्ष तक उनके समयकी मर्यादा है—

वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥

यदि इस समय जो वीरनिर्वाणसंवत् ( २४५१ ) प्रचलित है उसे ठीक मान लिया जाय तो इस श्लोकके आधार पर उमास्वातिका समय वि० सं० २०० या ३०० तक होता है और वह पट्टावलीके समयसे डेढ़सौ वर्षसे भी अधिक पीछे पड़ता है। इस समयको ठीक मान लेने पर समन्तभद्र वि० सं० ३४० ( ई० सन् २८३ ) या ३४० तकके करीबके विद्वान् ठहरते हैं।

### वीरनिर्वाण, विक्रम और शक संवत्।

परन्तु वीरनिर्वाण संवत्का अभीतक कोई ठीक निश्चय नहीं हुआ। इस संवत्से विक्रम संवत्का जो ४७० वर्ष ( ४६९ वर्ष ५ महीने ) बाद प्रचलित होना माना जाता है उसकी बाबत कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह ठीक नहीं है; क्योंकि वीरनिर्वाणसे

---

१ हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंके अनुसंधान-विषयक सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट।

२ इस पिछले अर्थकी संभावना अधिक प्रतीत होती है। कुन्दकुन्दका बादमें होना भी इसे पुष्ट करता है।

३ मालूम नहीं यह पद्य विद्वज्जनबोधकमें कहाँसे उद्धृत किया गया है और कौनसे ग्रंथका है।

४७० वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म हुआ है—न कि उसका सम्वत् प्रचलित हुआ, और इसके लिये वे नन्दिसंघकी दूसरी[1] प्राकृत पट्टावलीका निम्न वाक्य पेश करते हैं—

**सत्तरि[2] चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।**
**अठवरस बाललीला सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥**

उनके विचारसे विक्रमकी १८ वर्षकी अवस्था हो जाने पर, वीरनिर्वाणसे ४८८ वर्ष ५ महीने बाद, विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ है, और यह विक्रमके राज्यकालका सम्वत् है। श्रीयुत बाबू काशीप्रसादजी जायसवाल, बार-ऐट-ला, पटना, तथा मास्टर बिहारीलालजी बुलन्दशहरी इसी मतको पुष्ट करते हैं और डा० हर्मन जैकोबीका भी अब ऐसा ही मत मालूम होता है*। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भी

१ यह पट्टावली जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें भी मुद्रित हुई है।

२ यह गाथा 'विक्रम-प्रबन्ध' में भी पाई जाती है, (जै० सि० भा०, किरण ४ थी, पृ० ७५।)

*यह बात डा० हर्मन जॅकोबीके एक पत्रके निम्न अंशसे मालूम होती है जो उन्होंने 'भगवान महावीर' नामक पुस्तककी पहुँच देते हुए, हालमें लिखा है और जिसके इस अंशको बा० कामताप्रसादजीने 'वीर' के दिसम्बर सन् १९२४ के अंकमें मुद्रित किया है—

In the 32nd chapter you show that according to Digambara tradition, the Nirvâna of Mahâvira took place 470 before Vikrama. Now I found in Gurvavali from Jaipur that Vikrama's birth occurred 470 years after Mahavira's Nirvana सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो. But the Vikrama era does not date from the जन्म of Vikrama, but from the राज्य of Vikrama, or from the 18 th year after his birth. By this reckoning the Nirvana should be placed 18 years earlier or 545 B. C.

आचार्योंके पट्टारोहणके जो सम्वत् दिये हैं उनकी गणना विक्रमके राज्याभिषेक समयसे ही की गई है;* अन्यथा, उक्त पट्टावलीमें भद्रबाहु द्वितीयके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० सं० ४ दिया है वह नंदिसंघकी दूसरी प्राकृतपट्टावलीके विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि उस पट्टावलीमें भद्रबाहु (द्वितीय) का वीरनिर्वाणसे ४९२ वर्ष बाद होनेका उल्लेख किया है और यह समय विक्रमके जन्मसे २२ वर्ष बाद बैठता है। पट्टावलीमें सं० २२ न देकर ४ का दिया जाना इस बातको साफ बतलाता है कि वह विक्रमके राज्यकालका संवत् है और उसके जन्मसे १८ वर्षके बाद प्रारंभ हुआ है। अस्तु; यदि प्रचलित विक्रम संवत्को विक्रमके जन्मका संवत् न मानकर राज्यका संवत् मानना ही ठीक हो और साथ ही यह भी माना जाय कि विक्रमका जन्म वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ है तो आजकल जो वीरनिर्वाण सं० २४५१ बीत रहा है उसे २४७० मानना पड़ेगा; उमास्वातिका समय तब, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० २८१ या २८१ तक ठहरेगा, और तदनुसार समन्तभद्रका समय भी १८ वर्ष और पहले (ई० सन् २६५ या २६५ तकके करीब) हो जायगा।

विक्रमसंवत्के सम्बंधमें एक मत और भी है और वह प्रचलित संवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् प्रतिपादन करता है। इस मतके प्रधान पोषक हमारे मित्र पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं। आपने, 'दर्शनसार' की विवेचनामें, अपने इस मतका बहुत स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख किया है और साथ ही कुछ प्रमाणवाक्योंके द्वारा उसे पुष्ट करनेका भी यत्न

* देखो 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण ४ थी, पृष्ठ ७८।

किया है * । दर्शनसारकी कई गाथाओंमें, कुछ संघोंके उत्पत्ति-समयका निर्देश करते हुए, '**विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स**' शब्दोंका प्रयोग किया गया है । इसपरसे प्रेमीजीको यह खयाल पैदा हुआ कि इस ग्रंथमें जो कालगणना की है वह क्या खास तौरपर विक्रमकी मृत्युसे की गई है अथवा प्रचलित विक्रम संवत्का ही उसमें उल्लेख है और वह विक्रमकी मृत्युका संवत् है । खोज करनेपर आपको अमितगति आचार्यका निम्नवाक्य उपलब्ध हुआ और उसपरसे प्रचलित विक्रम संवत्को मृत्यु संवत् माननेके लिये आपको एक आधार मिल गया—

**समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे**
**सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके ।**
**समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ**
**सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥**

यह 'सुभाषितरत्नसंदोह'का पद्य है । इसमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि विक्रम राजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५० वाँ वर्ष ( सम्वत् ) बीत रहा था और राजा मुंज पृथ्वीका पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ल पंचमीके दिन यह शास्त्र समाप्त किया गया है । अमितग-

---

* यथा—" बहुतोंका खयाल है कि वर्तमानमें जो विक्रमसंवत् प्रचलित है वह विक्रमके जन्मसे या राज्याभिषेकसे शुरू हुआ है; परन्तु हमारी समझमें यह मृत्युका ही संवत् है । इसके लिये एक प्रमाण लीजिये ।"

१ देखो गाथा नं० ११, २८ और ३८ जिनके प्रथम चरण क्रमशः 'छत्तीसे वरिससए' 'पंचसए छव्वीसे,' 'सत्तसए तेवण्णे' हैं और द्वितीय चरण सबका वही 'विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स' दिया है । और इन गाथाओंमें क्रमशः श्वेताम्बर, द्राविड तथा काष्ठासंघोंकी उत्पत्तिका समय निर्देश किया है ।

तिने अपने दूसरे ग्रंथ 'धर्मपरीक्षा'की समाप्तिका समय इस प्रकार दिया है—

**संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।**
**इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रं ॥**

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रमसंवत् १०७० में ग्रंथकी समाप्तिका उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्युका संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया; फिर भी इस पद्यको पहले पद्यकी रोशनीमें पढ़नेसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि अमितगति आचार्यने प्रचलित विक्रम संवत्का ही अपने ग्रंथोंमें प्रयोग किया है और वे उसे विक्रमकी मृत्युका संवत् मानते थे—संवत्के साथमें विक्रमकी मृत्युका उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी, उससे कोई भेद नहीं पड़ता था। पहले पद्यमें मुंजके राज्यकालका उल्लेख इस विषयका और भी खास तौरसे समर्थक है; क्योंकि इतिहाससे प्रचलित वि० सं० १०५० में मुंजका राज्यासीन होना पाया जाता है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमितगतिने प्रचलित विक्रम संवत्से भिन्न किसी दूसरे ही विक्रम संवतका उल्लेख अपने उक्त पद्योंमें किया है। ऐसा कहने पर मृत्यु सं० १०५० के समय जन्मसं० ११३० अथवा राज्यसं० १११२ का प्रचलित होना ठहरता है और उस वक्त तक मुंजके जीवित रहनेका इतिहासमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुंजके उत्तराधिकारी राजा भोजका भी वि० सं० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

यद्यपि, विक्रमकी मृत्युके बाद प्रजाके द्वारा उसका मृत्युसंवत् प्रचलित किये जानेकी बात जीको कुछ कम लगती है, और यह हो सकता है कि अमितगति आदिको उसे मृत्युसंवत् समझनेमें कुछ

गलती हुई हो, फिर भी ऊपरके उल्लेखोंसे इतना तो स्पष्ट है कि प्रेमीजीका यह मत नया नहीं है—आजसे हजार वर्ष पहले भी उस मतके माननेवाले मौजूद थे और उनमें **देवसेन** तथा **अमितगति** जेस आचार्य भी शामिल थे * । यदि यही मत ठीक हो और वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष वाद विक्रमका शरीरतः जन्म होना भी ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि विक्रम सवंत् वीरनिर्वाणसे प्रायः ५५० (४७०+८० ) वर्ष वाद प्रारंभ हुआ है आर वीर निवार्णको हुए आज प्रायः २५३१ ( ५५०+१९८१ ) वर्ष वीत गये हैं; क्योंकि विक्रमकी आयु ८० वर्षके करीव वतलाई जाती है। ऐसी हालतमें उमास्वातिका समय उक्त पद्य परसे वि० सं० २२० या २२० तक निकलता है, और तव समन्तभद्र भी विक्रमकी तीसरी शताब्दीके या ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते हैं ।

इस तरह विक्रम संवत्के जन्म, राज्य और मृत्यु ऐसे तीन विकल्प होनेसे वीरनिर्वाणसंवत्के भी तीन विकल्प हो जाते हैं, और उसक आधार पर निर्णय होनेवाले आचार्योंके समयमें भी अन्तर पड़ जाता है ।

जॉर्ल चारपेंटियर नामके एक विद्वानने, जून, जुलाई और अगस्त सन् १९१४ के इंडियन 'एण्टिकेरी' के अंकोंमें, एक विस्तृत लेखके

* देवसेन आचार्यने अपने ' भावसंग्रह ' में भी विक्रमके मृत्युसंवतका उल्लेख किया है और पं० वामदेवके भावसंग्रहमें भी उसका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ १८८ ॥

१ यह लेख और इसके खंडनवाला लेख दोनों अभी तक हमें देखनेको नहीं मिल सके ।

द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि महावीरका निर्वाण विक्रमसंवत्से ४७० वर्ष पहले नहीं किन्तु ४१० वर्ष पहले हुआ है और इसलिये प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत्में से ६० वर्ष कम करने चाहियें। आपकी रायमें महावीरनिर्वाणसे ४७० वर्षबाद विक्रम नामके किसी राजाका अस्तित्व ही इतिहासमें नहीं मिलता। आपकी युक्तियोंका यद्यपि मिस्टर के० पी० जायसवालने खंडन किया है, ऐसा जैनसाहित्यसंशोधक, प्रथमखंडके ४ थे अंकसे माळूम होता है, फिर भी यह विषय अभी तक विवादग्रस्त चला जाता है।

वीरनिर्वाणका विषय आजकल ही कुछ विवादग्रस्त हुआ हो सो नहीं, बल्कि आजसे प्रायः १५०० वर्ष पहले भी, अथवा उससे भी कुछ वर्ष पूर्व, वह विवाद-ग्रस्त था, ऐसा जान पड़ता है। यही वजह है जो 'तिलोयपण्णत्ति' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) नामक प्राकृत ग्रंथमें इस विषयके चार विभिन्न मतोंका उल्लेख किया गया है*। यथा—

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद-इगसट्टिवासपरिमाणो ।
कालंमि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥ ८६ ॥
अह वा वीरे सिद्धे सहस्सणवकंमि सगसयब्भहिये ।
पणसीदिंमि यतीदे पणमासे सगणिओ जादो ॥ ८७ ॥
चोद्दस सहस्स सगसय ते-णउदी-वासकालविच्छेदे ।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अह वा ॥ ८८ ॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८९ ॥

अर्थात्—वीर जिनेन्द्रकी सिद्धिपदप्राप्तिके बाद जब ४६१ वर्ष बीत गये तब यहाँ पर शक नामक राजा उत्पन्न हुआ। अथवा वीर

* देखो जैनहितैषी, भाग १३, अंक १२, पृष्ठ ५३३।

भगवानके सिद्ध होनेके बाद ९७८५ वर्ष ५ महीने बीतने पर शक राजा हुआ। अथवा वीरेश्वरकी मुक्तिसे १४७९३ वर्षके अन्तरसे शक राजा उत्पन्न हुआ। अथवा वीरजिनेन्द्रकी निर्वाण-प्राप्तिको जब ६०५ वर्ष ५ महीने हो गये तब शक राजा हुआ।

इस कथनसे स्पष्ट है कि उस वक्त वीरनिर्वाणका होना एक मत तो शक राजासे ४६१ वर्ष पहले, दूसरा ९७८५ वर्ष ५ महीने पहले, तीसरा १४७९३ वर्ष पहले और चौथा ६०५ वर्ष ५ महीने पहले मानता था। इन चारों मतोंमें पहला मत नया है—उन मतोंसे भिन्न है जिनका इससे पहले उल्लेख किया गया है—और वही त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्त्ताको इष्ट जान पड़ता है। यदि यही मत ठीक हो तो कहना चाहिये कि विक्रम राजा वीरनिर्वाणसे ३२६(४६१–१३५) वर्ष बाद हुआ है, न कि ४७० वर्ष बाद, और इस समय वीरनिर्वाणसंवत् २३०७ बीत रहा है। साथ ही, यह भी कहना चाहिये कि उमास्वातिका समय उक्त पद्यके आधारपर वि० सं० ४४४ ( ७७०–३२६ ) या ४४४ तक होता है और समन्तभद्रका समय भी तब विक्रमकी ५ वीं शताब्दीका प्रायः अन्तिम भाग ठहरता है; अथवा यों कहिये कि वह पूज्यपादके समयके इतना निकट पहुँच जाता है कि पूज्यपादको अपने प्रारंभिक मुनिजीवनमें समन्तभद्रके सत्समागमसे लाभ उठानेकी बहुत कुछ संभावना रहती है।

दूसरा और तीसरा दोनों मत एकदम नये ही नहीं, बल्कि इतने अद्भुत और विलक्षण मालूम होते हैं कि आजकल उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मालूम नहीं ये दोनों मत किस आधारपर अवलम्बित हैं और उनका क्या रहस्य है। इनके रहस्यको शायद कोई महान् शास्त्री ही जैनग्रंथोंके बहुत गहरे अध्ययनके बाद उद्घाटन कर सके।

उस रहस्यके उद्घाटित होनेपर जैनशास्त्रोंकी बहुतसी लम्बी चौड़ी कालगणनापर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

रहा चौथा मत, वह वही है जो आजकल प्रचलित है और जिसके अनुसार इस समय वीरनिर्वाण संवत् २४५१ माना जाता है। त्रिलोकसारकी निम्न गाथामें भी इसी मतका उल्लेख है—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहियसगमासं ॥ ८५० ॥[1]

इस मतके विषयमें यद्यपि, यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि इसके अनुसार वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका देह-जन्म माना गया है या राज्यजन्म अथवा उसके राज्यकालकी समाप्ति ही उससे अभिप्रेत है; फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि यदि शक राजाका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है तो राजा विक्रमका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है—४८८ वर्ष बाद नहीं;—क्योंकि दोनोंके राज्यकालमें अथवा सम्वतोंमें १३५ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है, जो ४८८ वर्ष बाद विक्रमराज्यका प्रारंभ होना मानने पर नहीं बन सकता। और इस लिये प्राकृत पट्टावली आदिमें जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म होना लिखा है वह उसका राजारूपसे जन्म होना हो सकता है—देहरूपसे नहीं। देहरूपसे जन्म होना तभी समझा जा सकता है जब कि शक संवत्का प्रारंभ भी शक राजाके जन्मसे माना गया हो।

१ इस गाथामें वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका और शकसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्किका होना बतलाया गया है।

एक बात और भी यहाँ प्रकट कर देने योग्य है, और वह यह कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें 'सगराजो'के बाद 'तो' शब्दका प्रयोग किया गया है जो 'ततः' (तत्पश्चात्) का वाचक है—माधवचंद्र त्रैविद्यदेवविरचित संस्कृतटीकामें भी उसका अर्थ 'ततः' ही किया गया है—और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शक राजाकी सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्कि राजा हुआ; और चूंकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंसे कल्किकी मृत्युका वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्ष बाद होना पाया जाता है * इस लिये उक्त ३९४ वर्ष ७ महीनेमें कल्किका राज्यकाल भी शामिल है, जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनुसार ४२ वर्ष परिमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि इस गाथामें शक और कल्किका जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्यकालकी समाप्तिका सूचक है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि शक राजाका राज्यकाल वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारंभ हुआ और उसकी समाप्तिके बाद ३९४ वर्ष ७ महीने बीतनेपर कल्किका राज्यारंभ हुआ। ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्षके भीतर न रहकर ११०० वर्षके करीब हो जाता है और उससे एक हजारकी नियत संख्यामें बाधा आती है। अस्तु। वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक राजाके राज्यकालकी समाप्ति मान लेनेपर यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रम राजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके अनन्तर ही समाप्त हो गया था, और इस लिये वीरनिर्वाणसे ४७०

* देखो जैनहितैषी भाग १३, अंक १२ में 'लोकविभाग और त्रिलोकप्रज्ञप्ति' नामका लेख।

वर्ष वाद विक्रम राजाका जन्म होनेकी जो वात कही जाती है वह ठीक नहीं बैठती, अथवा यह कहना पड़ता है कि दोनोंके समयोंमें जो १३५ वर्षका अन्तर माना जाता है वही ठीक नहीं है। ऐसी हालतमें, विक्रमसंवत्को विक्रमका मृत्यु-संवत् न मानकर यदि यह माना जाय कि वह विक्रमकी १८ या २० वर्षकी अवस्थामें उसके राज्याभिषेक समयसे प्रारंभ हुआ है तो, ४७० मेंसे विक्रमके राज्यकाल ( ६६–६२ वर्षों ) को घटाकर यह कहना होगा कि वह वीरनिर्वाणसे प्रायः ४०८ अथवा जार्ल चार्पेटियरके कथनानुसार, ४१० वर्ष वाद प्रारंभ हुआ है। साथ ही, यह भी कहना होगा कि इस समय वीरनिर्वाण संवत् २३८९ या २३९१ वीत रहा है; और इस लिये उमास्वातिका समय, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० ३६० या ३६२ होना चाहिये अथवा इनमेंसे किसी संवत्को ही उनके समयकी अन्तिम मर्यादा कहना चाहिये, और तदनुसार समन्तभद्रका समय भी वि० सं० ४०० या ४०० तकके करीब वतलाना चाहिये।

इस सब कथनसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि वीरनिर्वाण संवत्का विषय और विक्रम तथा शक संवतोंके साथ उसका सम्बंध कितनी अधिक गड़बड़ तथा अनिश्चितावस्थामें पाया जाता है, और इसलिये, उसके आधारपर–उसकी गुत्थीको सुलझाये विना उसकी किसी एक वातको लेकर–किसीके समयका निर्णय कर वैठना कहाँ तक युक्तियुक्त और निरापद हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि वीरनिर्वाण-काल जैसे विषयका अभी तक अनिश्चित रहना जैनियोंके लिये एक वड़े ही कलंक तथा लज्जाकी वात है, और इसलिये जितना शीघ्र वन सके विद्वानोंको उसे पूरी तौर पर निश्चित कर डालना चाहिये। परंतु यह सब काम अधिक परिश्रम और समय-साध्य होनेके साथ

साथ प्रचुर अथवा यथेष्ट साधनसामग्रीके सामने मौजूद होनेकी खास अपेक्षा रखता है, जिसका इस समय अभाव है, और इसी लिये इस प्रबंधमें हम उसका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके। अवसरादिक मिलने पर उसके लिये जुदा ही प्रयत्न किया जायगा।

## कुन्दकुन्द-समय।

(घ) ऊपर—'ग' भागमें—उमास्वातिका समय-सूचक जो पद्य 'विद्वज्जनबोधक'से उद्धृत किया गया है उसमें कुन्दकुन्दाचार्यको भी उसी समयका विद्वान् बतलाया है जिसका उमास्वाति मुनिको, और इस तरह पर दोनोंको समकालीन विद्वान् सूचित किया है। परंतु इस पद्यके अनुसार दोनोंको समकालीन मान लेने पर भी इनमें वृद्धत्वका मान कुन्दकुन्दाचार्यको प्राप्त था, इसमें संदेह नहीं है। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें तो कुन्दकुन्दके अनन्तर ही उमास्वातिका आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित होना लिखा है और उससे ऐसा माल्स्म पड़ता है मानो उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य ही थे। परन्तु श्रवणबेलगोलके शिलालेखमें उमास्वातिका कुन्दकुन्दसे ठीक बादमें उल्लेख करते हुए भी उन्हें कुन्दकुन्दका शिष्य सूचित नहीं किया, बल्कि 'तदन्वये' और 'तदीयवंशे' शब्दोंके द्वारा कुंदकुंदका 'वंशज' प्रकट किया है *। फिर भी यह वंशजत्व कुछ दूरवर्ती माल्स्म नहीं होता। हो सकता है

* श्रवणबेलगोलके शिलालेखों—नं० ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० में—'तदन्वये' पदको लिये हुए यह श्लोक पाया जाता है—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥

और १०८ वें शिलालेखका पद्य निम्न प्रकार है—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥

कि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य न होकर प्रशिष्य रहे हों और इसीसे 'तदन्वये' आदि पदोंके प्रयोगकी जरूरत पड़ी हो। इस तरह भी दोनों कितने ही अंशोंमें समकालीन हो सकते हैं और उमास्वातिके समयकी समाप्तिको प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दके समयकी समाप्ति भी कहा जा सकता है। शायद यही वजह हो जो उक्त पद्यमें उमास्वातिका समय बतलाकर पीछेसे 'कुन्दकुन्दस्तथैव च' शब्दोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है, अर्थात् कुन्दकुन्द भी इसी समयके भीतर हो गये हैं। अस्तु, उक्त पट्टावलीमें उमास्वातिकी आयु ८४ वर्ष दी है और साथ ही यह सूचित किया है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्यपद पर प्रतिष्ठित रहे। यदि यह उल्लेख ठीक हो तो कहना चाहिये कि उमास्वाति प्रायः ४३ वर्ष कुन्दकुन्दके समकालीन रहे हैं। ऐसी हालतमें यदि कुन्दकुन्दका हो निश्चित समय मालूम हो जाय तो उसपरसे भी समन्तभद्रके आसन्न समयका बहुत कुछ यथार्थ बोध हो सकता है। परन्तु कुन्दकुन्दका समय भी अभी तक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो पाया। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जो आपका समय वि० सं० ९४ से १०१ तक दिया है उस पर तो, पट्टावलीकी हालतको देखते हुए सहसा विश्वास नहीं होता, और उक्त पद्यमें जो समय दिया है वह उन सब विकल्पों अथवा संदेहोंका पात्र बना हुआ है जो ऊपर 'ग' भागमें उपस्थित किये गये हैं; और इसलिये इन दोनों आधारों परसे प्रकृत विषयके निर्णयार्थ यहाँ किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती—समन्तभद्रके समयसम्बन्धमें जो कल्पनाएँ ऊपर की गई हैं वे ही ज्योंकी त्यों कायम रहती हैं। अब देखना चाहिये दूसरे किसी मार्गसे भी कुन्दकुन्दका कोई ठीक समय उपलब्ध होता है या कि नहीं।

इन्द्रनंदि आचार्यके 'श्रुतावतार'से मालूम होता है कि भगवान् महावीरकी निर्वाण–प्राप्तिके बाद ६२ वर्षके भीतर तीन केवली, उसके बाद १०० वर्षके भीतर पाँच श्रुतकेवली, फिर १८३ वर्षके भीतर ग्यारह मुनि दशपूर्वके पाठी, तदनंतर २२० वर्षके भीतर पाँच एकादशांगधारी और तत्पश्चात् ११८ वर्षमें चार आचारांगके धारी मुनि हुए। इस तरह वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यंत अंगज्ञान रहा। इसके बाद चार आरातीय मुनि अंग और पूर्वोके एकदेशज्ञानी हुए, उनके बाद 'अर्हद्बलि,' अर्हद्बलिके अनन्तर 'माघनन्दि' और माघनन्दिके पश्चात् 'धरसेन' नामके आचार्य हुए, जो 'कर्मप्राभृत'के ज्ञाता थे। इन मुनिराजने अपनी आयु अल्प जानकर और यह खयाल करके कि हमारे पीछे कर्मप्राभृत श्रुतका ज्ञान व्युच्छेद न होने पावे, वेणाक तटके मुनिसंघसे दो तीक्ष्णबुद्धि मुनियोंको बुलवाया, जो बादमें 'पुष्पदन्त' और 'भूतवलि' नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्हें वह समस्त श्रुत अच्छी तरहसे व्याख्या करके पढ़ा दिया। तत्पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिने कर्मप्राभृतको संक्षिप्त करके षट्खण्डागमका रूप दिया और उसे द्रव्य-पुस्तकारूढ किया–अर्थात्, लिपिबद्ध करा दिया। उधर गुणधर आचार्यने 'कषायप्राभृत' अपरनाम 'दोषप्राभृत'के गाथासूत्रोंकी रचना करके उन्हें 'नागहास्ति' और 'आर्यमंक्षु' नामके मुनियोंको पढ़ाया, उनसे 'यतिवृषभ'ने पढ़कर उन गाथाओंपर चूर्णिसूत्र रचे और यतिवृषभसे 'उच्चारणाचार्य' ने अध्ययन करके चूर्णिसूत्रोंपर वृत्तिसूत्र लिखे। इस प्रकार गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके द्वारा कषायप्राभृतकी रचना होकर वह भी द्रव्यपुस्तकारूढ हो गया। जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त द्रव्यभावरूपसे पुस्तकारूढ हो गये तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि ( कुंदकुंद ) नामके

आचार्य गुरुपरिपाटीसे दोनों सिद्धान्तोंके ज्ञाता हुए और उन्होंने 'षट्खण्डागम'के प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी।

इस कथनसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य वीरनिर्वाण सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारांगधारी 'लोहाचार्य' के बाद होनेवाले विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्वलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०-१० वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीरनिर्वाणसे ७६३ (६८३+२०+६०) वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय (७७०) के करीब ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जनबोधकसे उद्धृत किये हुए उक्त पद्यमें दिया है, और इस लिये इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है। श्रुतावतारमें, वीरनिर्वाणसे अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यपर्यंत, ६८३ वर्षके भीतर केवलि-श्रुतकेवलियों आदिके होनेका जो कथन जिस क्रम और जिस समयनिर्देशके साथ किया है वह त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जिनसेनकृत हरिवंशपुराण और भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराण जैसे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाया जाता है। हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इतना विशेष जरूर है कि आचारांगधारियोंकी ११८ वर्षकी संख्यामें अंग और पूर्वोके एकदेशधारियोंका भी समय शामिल किया है *; इससे विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका जो

* पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू।
तुरियो य लोहणामो एदे आयार अंगधरा ॥ ८० ॥

पृथक् समय २० वर्षका मान लिया गया था उसे गणनासे निकाल दिया जा सकता है और तब कुन्दकुन्दका वीरनिर्वाणसे ७४३ वर्ष बाद होना कहा जा सकता है। इससे भी उक्त पद्यके समयसमर्थनमें कोई बाधा न आती; क्योंकि उस पद्यमें प्रधानतासे उमास्वातिका समय दिया है—उमास्वातिके समकालीन होनेपर भी, वृद्धत्वके कारण, कुन्दकुन्दका अस्तित्व २७ वर्ष पहले और भी माना जा सकता है और उसका मान लिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। सेनगणकी पट्टावलीमें भी ६८३ वर्षकी गणना 'श्रुतावतार' के सदृश ही की गई है। परंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें वह गणना कुछ विसदृशरूपसे पाई जाती है। उसमें दशपूर्वधारियों तकका समय तो वही दिया है जिसका ऊपर उल्लेख किया है। उसके बाद एकादशांगधारी पाँच मुनियोंका समय, २२० वर्ष न देकर, १२३ वर्ष दिया है और शेष ९७ वर्षोंमें सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य नामके उन चार मुनियोंका होना लिखा है और उन्हें दश नव तथा अष्ट अंगका पाठी बतलाया है, जिन्हें 'श्रुतावतार' आदि ग्रंथोंमें एकादशां-

---

सेसेक्करसंगाणिं चोद्दसपुव्वाणमेकदेसधरा ।
एकसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥ ८१ ॥
तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहंमि ।
गोदमसुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसी दो ॥ ८२ ॥

१ जैनहितैषी, भाग ६ ठा, अंक ७–८ में पं० नाथूरामजीने आठके बाद सात संख्याका भी उल्लेख किया है और लिखा है कि, "जिस ग्रंथके आधार पर हमने यह पट्टावली प्रकाशित की है, उसमें इन्हें क्रमशः दश, नौ, आठ और सात अंगका पाठी बतलाया है"। ऐसा होना जीको भी लगता है, परंतु हमारे सामने जो पट्टावली है उसमें 'दसंग नव अंग अट्ठधरा' और 'दसनवअट्ठंगधरा' पाठ हैं। संभव है कि पहला पाठ कुछ अशुद्ध छप गया हो और वह 'दसंग णवअट्ठसत्तधरा' हो।

गवारियोंकी २२० वर्षकी संख्याके बाद ११८ वर्षके भीतर होनेवाले प्रतिपादन किया है और साथ ही 'आचारांग' नामक प्रथम अंगके ज्ञाता लिखा है। इन चारों मुनियोंके अनन्तर अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि नामके पाँच आचार्योंको 'एकांगधारी' लिखा है और उनका समय ११८ वर्ष दिया है*। इस तरह पर वीरनिर्वाणसे भूतबलिपर्यंत ६८३ वर्षकी गणना की गई है। यह गणना श्रुतावतार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण, आदिपुराण और सेनगणकी पट्टावलीसे कितनी भिन्न है और इसके द्वारा पुष्पदंत भूतबलि तक आचार्योंकी समयगणनामें कितना अन्तर पड़ जाता है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु यदि इसीको ठीक मान लिया जाय और यह स्वीकार किया जाय कि भूतबलिका अस्तित्व वीरनिर्वाण संवत् ६८३ तक रहा है तो भूतबलिके बाद कुंदकुंदकी प्रादुर्भूतिके लिये कमसे कम २०–३० वर्षकी कल्पना और भी करनी होगी; क्योंकि कुन्दकुन्दको दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु-परिपाटी द्वारा प्राप्त हुआ था † और पुष्पदंत, भूतबलि या उच्चारणा-

---

* यथा—पंचसये पणसट्ठे अन्तिमजिणसमयजादेसु।
उप्पण्णा पंचजणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ १५ ॥
अहिवल्लिमाघणंदिय धरसेणं पुप्फयंतभूदबली।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥
इगसयअठारवासे इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छसयतिरासियवासे णिव्वाणा अंगदित्ति कहियजिणे ॥ १७ ॥

† एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

चार्यमेंसे किसीको आपका गुरु नहीं लिखा है; इस लिये इन आचार्योंके बाद कमसे कम एक आचार्यका आपके गुरुरूपसे होना जरूरी मालूम पड़ता है, जिसके लिये उक्त समय अधिक नहीं है। इस तरह पर कुन्दकुन्दके समयका प्रारंभ वीरनिर्वाणसे ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है। परन्तु इस अधिक समयकी कल्पनाको भी यदि छोड़ दिया जाय और यही मान लिया जाय कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर ही कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं तो यह कहना होगा कि वे विक्रम संवत् २१३ ( ६८३–४७० ) के बाद हुए हैं उससे पहले नहीं। यही पं० नाथूरामजी प्रेमी * आदि अधिकांश जैन विद्वानोंका मत है। इसमें हम इतना और भी जोड़ देना चाहते हैं कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका देहजन्म मानते हुए, उसका विक्रमसंवत् यदि राज्यसंवत् है तो उससे १९५ ( ६८३–४८८ ) वर्ष बाद और यदि मृत्युसंवत् है तो उससे १३३ ( ६८३–५५० ) वर्ष बाद कुंदकुंदाचार्य हुए हैं। साथ ही, इतना और भी कि, यदि शक राजाका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पर्यंत रहा है, उसीकी मृत्युका वर्तमान शक संवत् (१८४६) प्रचलित है और विक्रम तथा शक संवतोंमें १३५ वर्षका वास्तविक अन्तर है तो कुन्दकुन्दाचार्य वि० सं० से ३५७ ( ६८३–३६१+१३५ ) वर्ष बाद हुए हैं।

ऊपर उमास्वातिके समयसे समन्तभद्रके समयकी कल्पना प्रायः ४० वर्ष बाद की गई है, कुन्दकुन्दके समयसे वह ६० वर्ष बाद की जा सकती है और कुछ अनुचित प्रतीत नहीं होती। ऐसी हालतमें समन्तभद्रको क्रमशः वि० सं० २७३, २५५, १९३ या ४१७ के करीबके विद्वान् कह सकते हैं। और यदि शक संवत् शक राजाकी

* देखो जैनहितैषी भाग १० वाँ, अंक ६–७, पृ० २७९।

मृत्युका संवत् न होकर उसके राज्य अथवा जन्मका संवत् हो तो पिछले ४१७ संवतमेंसे शकराज्यकाल अथवा उसकी आयुके वर्ष भी 'कम किये जा सकते हैं।

## राजा शिवकुमार ।

'पंचास्तिकाय' सूत्रकी जयसेनाचार्यकृत टीकामें लिखा है कि श्रीकुण्डकुन्दाचार्यने इस शास्त्रको अपने शिष्य शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधनार्थ रचा है, और वही राजा इस शास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त है। यथा—

"....श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः........शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे........"

"अथ प्राभृतग्रंथे शिवकुमारमहाराजो निमित्तं अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम्। इति संक्षेपेण निमित्तं कथितं।"

ग्रंथकी कनड़ी टीकामें भी, जो 'बालचंद' मुनिकी बनाई हुई है, इसी प्रकारका उल्लेख बतलाया जाता है। प्रोफेसर के० बी० पाठकने इन शिवकुमार महाराजका समीकरण कदम्बवंशके राजा 'शिवमृगेशवर्मा' के साथ किया है—उन्हींको उक्त शिवकुमार बतलाया है—और शिवमृगेशका समय, चालुक्य चक्रवर्ती 'कीर्तिवर्मा' महाराजके द्वारा बादामी स्थानपर शक सं० ५०० में प्राचीन कदम्बवंशके ध्वस्त किये जानेसे ५० वर्ष पहलेका निश्चित करके, यह प्रतिपादन किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य शक सं० ४५० (वि० सं० ५८५ या ई० सन् ५२८) के विद्वान् सिद्ध होते हैं। पाठक महाशयके इस मतको पं० गजाधरलालजी न्यायशास्त्रीने,

'समयसारप्राभृत' की प्रस्तावनामें, अपना यह मत पुष्ट करनेके लिये उद्धृत किया है कि कुन्दकुन्दका उत्पत्तिसमय वि० सं० २१३ से पहले बनता ही नहीं; और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि उसे स्वीकार कर लेनेमें कोई भी हानि नहीं है * । परंतु हमें तो उसके स्वीकारनेमें हानि ही हानि नजर पड़ती है—लाभ कुछ भी नहीं—और वह जरा भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । इस मतको मान लेनेसे समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्दसे पहलेके विद्वान् ठहरते हैं; और तब कुन्दकुन्दके वंशमें उमास्वाति हुए, उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने 'सर्वार्थसिद्धि' नामकी टीका लिखी, इत्यादि कथनोंका कुछ भी अर्थ अथवा मूल्य नहीं रहता, और पचासों शिलालेखों तथा ग्रंथादिकोंमें पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानोंके विषयमें जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुंदकुंदके वंशमें अथवा उनके बाद हुए हैं मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है†,

---

* '२१३ तमवैक्रमसंवत्सरात्पूर्वं तु साधयितुमेव नार्हति भगवत्कुन्दकुन्दोत्पत्तिसमयः ।'............

'ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुन्दकुन्दसमयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तम शकसंवत्सर एव सिद्ध्यति स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति ।'

† उदाहरणके लिये देखो मर्कराका ताम्रपत्र जो शक संवत् ३८८ का लिखा हुआ है और जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यके वंशमें होनेवाले आचार्योंका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

'......श्रीमान् कोंगणि–महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगगणं कौण्डकुन्दान्वय–गुणचंद्रभटार-शिष्यस्य अभयणंदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदिभटार-शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारगें अष्ट अशीति-त्रयो-शतस्य सम्वत्सरस्य मावमासं......'

—कुर्ग इन्स्क्रिप्शन्स ( E. C. I.)

यह सब क्या कुछ कम हानि है ? समझमें नहीं आता कि न्यायशास्त्रीजीने विना पूर्वापर सम्बन्धोंका विचार किये ऐसा क्यों लिख दिया। अस्तु; हमारी रायमें, प्रथम तो जयसेनादिका यह लिखना ही कि 'कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनके निमित्त इस पंचास्तिकायकी रचना की ' बहुत कुछ आधुनिक * मत जान पड़ता है, मूल ग्रंथमें उसका कोई उल्लेख नहीं और न श्रीअमृतचंद्राचार्यकृत प्राचीन टीकापरसे ही उसका कोई समर्थन होता है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने ग्रंथके अन्तमें यह सूचित किया है कि उन्होंने इस ' पंचास्तिकायसंग्रह ' सूत्रको प्रवचनभक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनार्थ रचा है। यथा—

* १३ वीं १४ वीं शताब्दीके करीबका; क्योंकि बालचंद्रमुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके गुरु नयकीर्तिका शक सं० १०९९ ( वि० सं० १२३४ ) में देहान्त हुआ है। और जयसेनाचार्य विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। उन्होंने प्रवचनसारटीकाकी प्रशस्तिमें जिन 'कुमुदेन्दु ' को नमस्कार किया है वे उक्त बालचंद्र मुनिके समकालीन विद्वान् थे। आपकी प्राभृतत्रयकी टीकाओंमें गोम्मटसार, चारित्रसार, द्रव्यसंग्रह आदि ११ वीं १२ वीं शताब्दियोंके बने हुए ग्रंथोंके कितने ही उल्लेख पाये जाते हैं। ऐसी हालतमें पंचास्तिकायटीकाके अन्तमें ' पंचास्तिकायः समाप्तः' के बाद जो ' विक्रम संवत् १३६९ वर्षेआश्विन शुद्धि १ भौम दिने' ऐसा समय दिया हुआ है वह आश्चर्य नहीं जो टीकाकी समाप्तिका ही समय हो।

१ प्रो० ए० चक्रवर्ती, ' पंचास्तिकाय' की प्रस्तावनामें लिखते हैं कि प्राभृतत्रयके सभी टीकाकारोंने इस बातका उल्लेख किया है कि इन तीनों ग्रंथोंको कुन्दकुन्दाचार्यने अपने शिष्य शिवकुमारके हितार्थ रचा है; परंतु अमृतचंद्राचार्यकी किसी भी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। नहीं मालूम प्रो० साहबने किस आधार पर ऐसा कथन किया है।

२ 'मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा।' (अमृतचन्द्र)।

**मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया**
**भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥ १७३ ॥**

इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दने अपना यह ग्रंथ किसी व्यक्तिविशेष-के उद्देश्यसे अथवा उसकी प्रेरणाको पाकर नहीं लिखा, बल्कि इसका खास उद्देश्य '**मार्गप्रभावना**' और निमित्तकारण '**प्रवचनभक्ति**' है। यदि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनकी खास प्रेरणासे इस ग्रंथको लिखा होता तो वे इस पद्यमें या अन्यत्र कहीं उसका कुछ उल्लेख जरूर करते, जैसे कि भट्टप्रभाकरके निमित्त 'पर-मात्मप्रकाश' की रचना करते हुए योगीन्द्रदेवने जगह जगह पर ग्रंथमें उसका उल्लेख किया है। परंतु यहाँ मूल ग्रंथमें ऐसा कुछ भी नहीं, न प्राचीन टीकामें ही उसका उल्लेख मिलता है और न कुन्दकुन्दके किसी दूसरे ग्रंथसे ही शिवकुमारका कोई पता चलता है। इस लिये यह ग्रंथ शिव-कुमार महाराजके संबोधनार्थ रचा गया ऐसा माननेके लिये मन सहसा तय्यार नहीं होता। संभव है कि एक विद्वानने किसी किम्वदंतीके आधार पर उसका उल्लेख किया हो और फिर दूसरेने भी उसकी नकल कर दी हो। इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने 'प्रवचनसार' की टीकामें प्रथम प्रस्तावनावाक्यके द्वारा, 'शिवकुमार' का जो निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है उससे शिवकुमार महाराजकी स्थिति और भी संदिग्ध हो जाती है—

**अथ[1] कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्न-परमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृ-**

१ देखो, रायचंद्रजैनशास्त्रमालामें प्रकाशित 'प्रवचनसार' का वि० सं० १९६९ का संस्करण।

तंदुराग्रहः परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः श्रीवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतःपंचपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति—

इस प्रस्तावनाके बाद मूल ग्रंथकी मंगलादिविषयक पाँच गाथाएँ एक साथ दी हैं जिनमेंसे पिछली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४ ॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥

इन गाथाओंमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने बतलाया है कि 'मैं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुओं (पंचपरमेष्ठियों) को नमस्कार करके और उनके विशुद्ध दर्शनज्ञानरूपी प्रधान आश्रमको प्राप्त होकर (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न होकर) उस साम्यभाव (परम-वीतराग-चारित्र) का आश्रय लेता हूँ—अथवा उसे सम्पादन करता हूँ—जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।' और इस प्रकारकी प्रतिज्ञाद्वारा उन्होंने अपने ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयको सूचित किया है। अब इसके साथ टीकाकारकी उक्त प्रस्तावनाको देखिये, उसमें यही प्रतिज्ञा शिवकुमारसे कराई गई है, और इस तरह पर शिवकुमारको मूलग्रंथका कर्ता अथवा प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दका ही नामान्तर सूचित किया है। साथ ही शिवकुमारके जो विशेषण दिये हैं वे एक राजाके विशेषण नहीं हो सकते—वे उन महामुनिराजके विशेषण हैं जो सरागचारित्रसे भी उपरत

होकर वीतरागचरित्रकी ओर प्रवृत्त होते हैं। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि शिवकुमार महाराजकी स्थिति कितनी संदिग्ध है।

दूसरे, शिवकुमारका 'शिवमृगेशवर्मा' के साथ जो समीकरण किया गया है उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी मालूम नहीं होता। उससे अच्छा समीकरण तो प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती नायनार, एम० ए०, एल० टी०, का जान पड़ता है जो कांचीके प्राचीन पल्लवराजा 'शिवस्कन्दवर्मा' के साथ किया गया है*; क्योंकि 'स्कन्द' कुमारका पर्याय नाम है और एक दानपत्रमें उसे 'युवामहाराज' भी लिखा है जो 'कुमार-महाराज' का वाचक है; इस लिये अर्थकी दृष्टिसे शिवकुमार और शिवस्कन्द दोनों एक जान पड़ते हैं। इसके सिवाय शिवस्कन्दका 'मयिदावोलु' वाला दानपत्र, अन्तिम मंगल पद्यको छोड़ कर, प्राकृत भाषामें लिखा हुआ है और उससे शिवस्कन्दकी दरबारी भाषाका प्राकृत होना पाया जाता है जो इस ग्रंथकी रचना आदिके साथ शिवस्कन्दका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ज्यादा अनुकूल जान पड़ती है। साथ ही, शिवस्कन्दका समय भी शिवमृगेशसे कई शताब्दियों पहलेका अनुमान किया गया है†। इसलिये पाठक महाशयका उक्त समीकरण

---

* देखो 'पंचास्तिकाय' के अंग्रेजी संस्करणकी प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा लिखित 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' ( Historical Introduction ), सन् १९२०।

† चक्रवर्ती महाशयने, कुन्दकुन्दका अस्तित्वसमय ईसासे कई वर्ष पहलेसे प्रारंभ करके, उन्हें ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् माना है, और इस लिये उनके विचारसे शिवस्कंदका समय ईसाकी पहली शताब्दी होना चाहिये; परन्तु एक जगह पर उन्होंने ये शब्द भी दिये हैं—

It is quite possible therefore that this Sivaskanda of Conjeepuram or one of the predecessor of the

किसी तरह भी ठीक मालूम नहीं होता। जान पड़ता है उन्होंने इस समीकरणको लेकर ही दो ताम्रपत्रोंमें उल्लेखित हुए तोरणाचार्यको, कुन्दकुन्दान्वयी होनेके कारण, केवल डेढ़सौ वर्ष पीछेका ही विद्वान् कल्पित किया है; अन्यथा, वैसी कल्पनाके लिये दूसरा कोई भी आधार नहीं था। हम कितने ही विद्वानोंके ऐसे उल्लेख देखते हैं जिनमें उन्हें कुन्दकुन्दान्वयी सूचित किया है और वे कुन्दकुन्दसे हजार वर्पसे भी पीछेके विद्वान् हुए हैं। उदाहरणके लिये शुभचंद्राचार्यकी पट्टावलीको लीजिये, जिसमें सकलकीर्ति भट्टारकके गुरु 'पद्मनन्दि'को कुन्दकुन्दाचार्यके बाद **'तदन्वयवरणधुरीण'** लिखा है और जो ईसाकी प्रायः १५ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। इसलिये उक्त ताम्रपत्रोंके आधार-पर तोरणाचार्यको शक सं० ६०० का और कुन्दकुन्दको उनसे १५० वर्ष पहले—शक सं० ४५०—का विद्वान् मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता और वह उक्त समीकरणकी मिथ्या कल्पना पर ही अवलम्बित जान पड़ता है। ४५० से पहलेका तो शक सं० ३८८ का लिखा हुआ

---

Same name was the contemporary and deciple of Sri Kundakunda.

इन शब्दोंसे यह ध्वनि निकलती है कि इस शिवस्कंदका ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धमें होना चक्रवर्ती महाशयको शायद कुछ संदिग्ध जान पड़ा है, वे उसका कुछ बादमें होना भी संभव समझते हैं, और इस लिये उन्होंने इस शिवस्कंदसे पहले उसी नामके एक और पूर्वजकी कल्पनाको भी कुन्दकुन्दकी समकालीनता और शिष्यताके लिये स्थान दिया है।

१ ये ताम्रपत्र राष्ट्रकूट वंशके राजा तृतीय गोविन्दके समयके हैं और तोरणाचार्यके प्रशिष्य प्रभाचन्द्रसे सम्बंध रखते हैं। इनमें एक शक सं० ७१९ और दूसरा ७२४ का है। देखो, समयप्राभृतकी प्रस्तावना और पद्मप्राभृतादि-संग्रहकी भूमिका। २ देखो जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरण, पृष्ठ ४३।

मर्कराका ताम्रपत्र है, जिसमें कुन्दकुन्दका नाम है, गुणचंद्राचार्यको कुन्दकुन्दके वंशमें होनेवाले प्रकट किया है और फिर ताम्रपत्रके समय तक उनकी पाँच पीढ़ियोंका उल्लेख किया है ।

## एलाचार्य ।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने, पंचास्तिकायकी अपनी 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' में, प्रो० हर्नलद्वारा संपादित नन्दिसंघकी पट्टावलियोंके आधार पर, कुन्दकुन्दको विक्रमकी पहली शताब्दीका विद्वान् माना है—यह सूचित किया है कि वे वि० सं० ४९ में (ईसासे ८ वर्ष पहले) आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिनकी बतलाई है। साथ ही, यह प्रकट करते हुए कि कुन्दकुन्दका एक नाम 'एलाचार्य' भी था और तामिल भाषाके 'कुरल' काव्यकी बाबत कहा जाता है कि उसे 'एलाचार्य' ने रचकर अपने शिष्य थिरुवल्लुवरको दिया था जिसकी कृतिरूपसे वह प्रसिद्ध है और जिसने उसको मदुरासंघ (मदुराके कविसम्मेलन) के सामने पेश किया था, यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि उक्त एलाचार्य और कुन्दकुन्द दोनों एक ही व्यक्ति थे और इसलिये 'कुरल' का समय भी ईसाकी पहली शताब्दी ठहरता है * । परंतु 'कुरल' का समय ईसाकी पहली शताब्दी ठहरो या कुछ और, और वह एलाचार्यका बनाया हुआ हो या न हो, हमें इस चर्चामें जानेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि उसके आधारपर कुन्दकुन्दका

* This identification of E'lâchârya the author of Kural with Elâchârya or Kund Kund would place the Tamil work in the 1st century of the Christian era.

समय निर्णय नहीं किया गया है। हमें यहाँपर सिर्फ इतना ही देखना है कि चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके जिस समयका प्रतिपादन किया है वह कहाँ तक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। रही यह बात कि 'एलाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था या कि नहीं, इस विषयमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ तक हमने जैन-साहित्यका अवगाहन किया है, हमें नन्दिसंघकी पट्टावली अथवा गुर्वावलीको छोड़कर, दूसरे किसी भी ग्रंथ अथवा शिलालेख परसे यह माळूम नहीं होता कि 'एलाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था। अनेक शिलालेखों आदि परसे उनका दूसरा नाम 'पद्मनन्दि' ही उपलब्ध होता है और वही उनका दीक्षासमयका नाम अथवा प्रथम नाम था *; 'कौण्डकुन्दाचार्य' नामसे वे बादमें प्रसिद्ध हुए हैं जिसका श्रुतिमधुररूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' बन गया है और यह उनका देशप्रत्यय नाम था क्योंकि वे कोण्डकुन्दपुरके रहनेवाले थे और इस लिये कोण्डकुन्दाचार्य का अर्थ 'कोण्डकुन्दपुरके आचार्य' होता है। उस समय इस प्रकारके नामोंकी परिपाटी थी, अनेक नगर-ग्रामोंमें मुनिसंघ स्थापित थे—मुनियोंकी टोलियाँ रहती थीं—और उनमें जो बहुत बड़े आचार्य होते थे वे कभी कभी उस नगरादिकके नामसे ही प्रसिद्ध होते थे। श्रवण-

* जैसा कि श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंके निम्न वाक्योंसे पाया जाता है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि-प्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥

—शि० ले० नं० ४०।

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः॥

—नं० ४२,४३,४७,५०।

बेलगोलके शिलालेखों आदिमें ऐसे बहुतसे नामोंका उल्लेख पाया जाता है। पट्टावलीमें 'गृध्रपिच्छ' और 'वक्रग्रीव' ये दो नाम जो और दिये हैं उनकी भी कहींसे उपलब्धि नहीं होती। उन नामोंके दूसरे ही विद्वान् हुए हैं—गृध्रपिच्छ उमास्वातिका दूसरा नाम था, जिसका उल्लेख कितने ही शिलालेखों तथा ग्रंथोंमें पाया जाता है, और 'वक्रग्रीव' नामके भिन्न आचार्यका उल्लेख भी श्रवणबेलगोलके ५४ वें शिलालेख आदिमें मिलता है। इसी तरहपर 'एलाचार्य' नामके भी दूसरे ही विद्वान् हुए हैं, जिनसे भगवज्जिनसेनके गुरु श्रीवीरसेनाचार्यने सिद्धान्त-शास्त्रोंको पढ़कर उन पर 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाएँ लिखी थीं, जिन्हें धवल और जयधवल सिद्धान्त भी कहते हैं। 'धवला' टीकाको वीरसेनने शक सं० ७३८ में बनाकर समाप्त किया था; इससे 'एलाचार्य' विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। चक्रवर्तीमहाशयके कथनानुसार, डाक्टर जी० यू० पोपने 'कुरल' का समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीसे कुछ पीछेका बतलाया है और वह समय इन एलाचार्यके समयके अनुकूल पड़ता है। आश्चर्य नहीं, यदि 'कुरल' का यही समय हो तो उसकी रचनामें इन एलाचार्यने कोई

---

१ "काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७७ ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।" इत्यादि
—इन्द्रनन्दिश्रुतावतार ।

२ 'धवला' टीकाकी प्रशस्तिमें, स्वयं वीरसेन आचार्यने एलाचार्यका निम्नप्रकारसे उल्लेख किया है—

" जस्स सेसाएणमये सिद्धंतसिदि हि अहिलहुंदो– ।
महुं सो एलाइरिओ पसियउ वरवीरसेणस्स" ॥ १ ॥

खास सहायता प्रदान की हो । परन्तु उसे बिलकुल ही स्वयं रचकर दे देनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती; क्योंकि थिरुवल्लुवर यदि इतने अयोग्य थे कि वे स्वयं वैसी कोई रचना नहीं कर सकते थे तो वे कवि-संघके सामने उसे अपने नामसे पेश करनेके योग्य भी नहीं हो सकते थे—वे तब 'कुरल' को एलाचार्यके नामसे ही उपस्थित करते, जिनके नामसे उपस्थित करनेमें कोई बाधा माळूम नहीं होती—और यदि वे खुद भी वैसी रचना करनेके लिये समर्थ थे तो यह नहीं हो सकता कि उन्होंने साराका सारा ग्रंथ दूसरे विद्वानसे लिखा कर उसे अपने नामसे प्रकट किया हो अथवा उसमें अपनी कुछ भी कलम न लगाई हो । इस विषयमें हिन्दुओंका यह परम्पराकथन ज्यादा वजनदार माळूम होता है कि थिरुवल्लुवरने 'एलालसिंह' की सहायतासे स्वयं-ही इस ग्रंथकी रचना की है; परंतु उनका ग्रंथकर्ताको शैवधर्मानुयायी बतलाना कुछ ठीक नहीं जँचता । बहुत संभव है कि हिन्दुओंका यह 'एलालसिंह' एलाचार्य ही हो अथवा एलाचार्यके गृहस्थ जीवनका ही यह कोई नाम हो । वस्तुस्थितिकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धि अथवा योग्य समर्थनके पट्टावलीके प्रकृत कथनपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता । और न एक मात्र उसीके आधारपर यह कहा जा सकता है कि एलाचार्य कुन्दकुन्दका नामान्तर था ।

## पट्टावलिप्रतिपादित समय ।

अब समयविचारको लीजिये । जिस पट्टावलीके आधारपर चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके उक्त समयका प्रतिपादन किया है वह वही पट्टावली है जिसे ऊपर 'ख' भागमें बहुत कुछ संदिग्ध और अविश्वसनीय बतलाया जा चुका है । और इसलिये जबतक उसपर होनेवाले संदेहों

तथा आक्षेपोंका अच्छी तरहसे निरसन न कर दिया जाय तब तक केवल उसीके आधार पर किसी आचार्यके समयको दृढताके साथ सत्य प्रतिपादन नहीं किया जासकता; फिर भी उसमें उल्लेखित अनेक समयोंके सत्य होनेकी संभावना है, और इसलिये हमें यह देखना चाहिये, कि कुन्दकुन्दके उक्त समयकी सत्यतामें प्रकारान्तरसे कोई बाधा आती है या कि नहीं—

यह बात मानी हुई है और इसमें कोई मतभेद भी नहीं पाया जाता कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षतक अंगज्ञान रहा, उसके बाद फिर कोई अंगज्ञानी—एक भी अंगका पाठी—नहीं हुआ, और कुन्दकुन्दाचार्य अंगज्ञानी नहीं थे। इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके कथनानुसार कुन्दकुन्द अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यकी कई पीढ़ियोंके बाद हुए हैं जिन पीढ़ियोंके लिये ६०–८० वर्षके समयकी कल्पना कर लेना कुछ बेजा नहीं है। और प्राकृत पट्टावलीके अनुसार, भूतबलिको अन्तिम एकांगधारी मान लेनेपर कुन्दकुन्दका समय ६८३ से २०–३० वर्ष बादका ही रह जाता है। परन्तु दोनों ही दृष्टियोंको संक्षिप्त करके यदि यही मान लिया जाय कि कुन्दकुन्द अन्तिम एकांगधारी ( लोहाचार्य या भूतबलि ) के ठीक बाद हुए हैं तो यह मानना होगा कि वे वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद हुए हैं। और ऐसी हालतमें, जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, कुन्दकुन्द किसी तरह भी विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् सिद्ध नहीं होते। हाँ यदि यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्द, अंगधारी न होते हुए भी, एकांगधारियोंसे पहले हुए हैं तो उनका समय विक्रमकी पहली शताब्दी बन सकता है। महाशय चक्रवर्ती भी ऐसा ही मानकर चले मालूम होते हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

आपने एकादशांगधारियों तक ४६८ वर्षकी गणना की है। इस गणनामें एकादशांगधारियोंका एकत्र समय २२० की जगह १२३ वर्ष माना गया है और वह प्राकृत पट्टावलीके अनुसार है। इसी पट्टावलीको लेकर आपने अन्तिम एकादशांगधारी कंसके बाद सुभद्र और यशोभद्रका समय क्रमशः ६ वर्ष और १८ वर्षका बतलाया है। इसके बाद, भद्रबाहु द्वितीयके २३ वर्ष समयका नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीके साथ मेल देखकर कुन्दकुन्दके समयके लिये उस पट्टावलीका आश्रय लिया है; और पट्टावलीमें भद्रबाहुके आचार्य पद पर प्रतिष्टित होनेका समय विक्रमराज्य सं० ४ दिया हुआ होनेसे यह प्रतिपादन किया है कि विक्रमका जन्म सुभद्रके उक्त समयारंभसे दूसरे वर्षमें हुआ है—अथवा इस उल्लेखके द्वारा यह सूचित किया है कि विक्रम प्रायः १८ वर्षकी अवस्थामें राज्यासनपर अभिषिक्त हुआ था और उस वक्त यशोभद्रके समयका १५ वाँ वर्ष बीत रहा था। साथ ही, इस पिछली पट्टावलीके आधारपर कुन्दकुन्दसे पहले होनेवाले आचार्योंका जो समय आपने दिया है उससे मालूम होता है कि यशोभद्रके बाद भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी प्रथम और जिनचंद्र, ये चारों आचार्य ४५ वर्ष ८ महीने ९ दिनके भीतर हुए हैं; और चूंकि भद्रबाहु द्वितीयका आचार्य पद पर प्रतिष्टित होना चैत्रसुदी १४ के दिन लिखा है, इससे यह भी मालूम होता है कि वे वीरनिर्वाणसे ४९२ (४६८+६+१८) वर्ष ५ महीने १३ दिन बाद आचार्य पद पर प्रतिष्टित हुए थे। इस तरह पर वीरनिर्वाणसे ५३८ वर्ष १ महीना २२ दिन (४९२ वर्ष ५ महीने

१ वीरनिर्वाण कार्तिक वदी १५ के दिन हुआ था, उसके बाद चैत्रसुदी १४ से पहले ५ महीने १३ दिनका समय और बैठता है।

१३ दिन+४५ वर्ष ८ महीने ९ दिन ) बाद, पौषवदी ८ के दिन, आचार्य पद पर कुन्दकुन्दके प्रतिष्ठित होनेका विधान किया गया है; अथवा दूसरे शब्दोंमे यो कहना चाहिये कि प्राकृत पट्टावलीके अनुसार जब ७–८ अंगोंके पाठी लोहाचार्यका समय चल रहा था, या श्रुताव-तार और त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिके अनुसार एकादशांगधारियोंका ही–संभवतः कंसाचार्यका—समय बीत रहा था उस समय कुन्दकुन्दाचार्य-के अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है ।

यद्यपि, अंगज्ञानी न होने पर भी कुन्दकुन्दका अंगज्ञानियोंके समय-में होना कोई असंभव या अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता;—उस समय भी दूसरे ऐसे विद्वान् जरूर होते रहे हैं जो एक भी अंगके पाठी नहीं थे—परन्तु ऐसा मान लेनेपर नीचे लिखी आपत्तियाँ खड़ी होती हैं जिनका अच्छी तरहसे निरसन अथवा समाधान हुए विना कुन्द-कुन्दका यह समय नहीं माना जा सकता, जो कि एक बहुत ही सशं-कित और आपत्तियोग्य पट्टावलीपर अवलम्बित है—

( १ ) दोनों पट्टावलियोंके आधारपर अर्हद्बलि कुन्दकुन्दके प्रायः समकालीन और शेष माघनन्दि (द्वितीय), धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूत-बलि नामके चारों आचार्य कुन्दकुन्दसे एकदम पीछेके विद्वान् पाये जाते हैं, और यह बात इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके विरुद्ध पड़ती है ।

( २ ) गुणधर, नागहस्ति, आर्यमंक्षु, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य भी कुन्दकुन्दसे कितने ही वर्ष बादके विद्वान् ठहरते हैं, और यह वात भी 'श्रुतावतार' के विरुद्ध पड़ती है ।

---

१ लोहाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ५१५ वर्षके बाद प्रारंभ होता है और वह ५० वर्षका बतलाया गया है। इसलिये कुन्दकुन्दके आचार्य होनेके बाद २७ वर्ष तक और भी लोहाचार्यका समय रहा है।

(३) किसी भी ग्रंथ अथवा शिलालेखादिमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह साफ तौरपर विदित होता हो कि उक्त माघनंदी, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, तथा गुणधर, नागहस्ति, आर्यमंक्षु, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य, ये सब अथवा इनमेंसे कोई भी—कुन्दकुन्दकी आचार्यसंततिमें अथवा उनके बाद हुए हैं। कुन्दकुन्दके बाद होनेवाले आचार्योंकी जगह जगह अनेक नाममालाएँ मिलती हैं, उनमेंसे किसीमें भी इन आचार्योंका कोई नाम न होनेसे इन आचार्योंका कुन्दकुन्दके बाद होना जरूर खटकता है। हाँ एक स्थानपर—श्रवणबेलगोलके १०५ (२५४) नम्बरके शिलालेखमें—ये वाक्य जरूर पाये जाते हैं—

> यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
> फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिवकल्पभूजः॥
> अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं।
> कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे॥
> सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं।
> तत्सेन-नन्दि-त्रिदिवेश-सिंहसंघेषु यस्तं मनुते कुदृक्षः॥

इन वाक्योंमें यह बतलाया गया है कि "पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों अर्हद्बलिके शिष्य थे और उनसे अर्हद्बलि ऐसे राजते थे मानों जगज्जनोंको फल देनेके लिये कल्पवृक्षने दो नये अंकुर ही धारण किये हैं। इन्हीं अर्हद्बलिने कालस्वभावसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंको घटानेके लिये कुन्दकुन्दान्वयरूपी मूलसंघको चार भागोंमें विभाजित किया था और वे विभाग सेन, नन्दि, देव तथा सिंह नामके चारसंघ हैं ....इन चारों संघोंमें जो वास्तविक भेद मानता है वह कुदृष्टि है।"

इस कथनमें मूलसंघका जो ' कुन्दकुन्दान्वय ' विशेषण दिया गया है और उसी कुन्दकुन्दान्वयविशेषित मूलसंघका अर्हद्बलिद्वारा चार संघोंमें विभाजित होना लिखा है उससे, यद्यपि, यह ध्वनि निकलती है कि कुन्दकुन्दान्वय अर्हद्बलिसे पहले प्रतिष्ठित हो चुका था और इसलिये कुन्दकुन्द अर्हद्बलिसे पहले हुए हैं परंतु यह शिलालेख शक सं० १३२० का लिखा हुआ है जब कि कुन्दकुन्दान्वय बहुत प्रसिद्धिको प्राप्त था और मुनिजनादिक अपनेको कुन्दकुन्दान्वयी कहनेमें गर्व मानते थे। इसलिये यह भी हो सकता है कि वर्तमान कुन्दकुन्दान्वयको मूलसंघसे अभिन्न प्रकट करनेके लिये ही यह विशेषण लगाया गया हो और ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका कोई सम्बंध न हो। अर्हद्बलि, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है पट्टावलियोंके अनुसार कुन्दकुन्दके समकालीन थे—वे कुन्दकुन्दसे प्रायः तीन वर्ष बाद तक ही और जीवित रहे हैं *। ऐसी हालतमें उनके द्वारा कुन्दकुन्दान्वयके इस तरहपर विभाजित किये जानेकी संभावना कम पाई जाती है। इसके सिवाय, अर्हद्बलिद्वारा इस चतुर्विधसंघकी कल्पनाका विरोध श्रवणबेलगोलके निम्न शिलावाक्योंसे होता है—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः ॥

---

* प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलिका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षके बाद प्रारंभ करके ५९३ तक दिया है, और नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीसे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द ५१ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे जिससे उनका जीवनकाल वीरनि० सं० ५९० तक पाया जाता है और इस तरह पर अर्हद्बलिका कुन्दकुन्दसे कुल तीन वर्ष बाद तक जीवित रहना ठहरता है।

तस्मिन्गते स्वर्गभुवं महर्षौ दिवःपतीन्नर्तुमिव प्रकृष्टान्।
तदन्वयोद्भूतमुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि संघभेदाः॥
स योगिसंघश्चतुरः प्रभेदानासाद्य भूयानविरुद्धवृत्तान्।
बभावयं श्रीभगवान्जिनेन्द्रश्चतुर्मुखानीव मिथः समानि॥
देव-नन्दि-सिंह-सेन-संघभेदवर्तिनां
देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनां।
वृत्तितस्समस्ततोऽविरुद्धधर्मसेविनां
मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दि-संघ इत्यभूत्॥

—शिलालेख नं० १०८ (२५८)।

इन वाक्यों द्वारा यह सूचित किया गया है कि अकलंकदेव (राजवार्तिकादि ग्रंथोंके कर्ता) की दिवःप्राप्तिके बाद, उनके वंशके मुनियोंमें, यह चार प्रकारका संघभेद उत्पन्न हुआ जिसका कारण देश-भेद है और जो परस्पर अविरुद्ध रूपसे धर्मका सेवन करनेवाला है। अकलंकसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके संघोंका कोई उल्लेख भी अभीतक देखनेमें नहीं आया जिससे इस कथनके सत्य होनेकी बहुत कुछ संभावना पाई जाती है।

(४) 'षट्खण्डागम'के प्रथम तीन खंडोंपर कुन्दकुन्दने १२ हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी, यह उल्लेख भी मिथ्या ठहरता है।

(५) उपलब्ध जैनसाहित्यमें कुन्दकुन्दके ग्रंथ ही सबसे अधिक प्राचीन ठहरते हैं और यह उस सर्वसामान्य मान्यताके विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार कर्म-प्राभृत और कषाय-प्राभृत नामके वे ग्रंथ ही प्राचीनतम माने जाते हैं जिन पर धवलादि टीकाएँ उपलब्ध हैं।

( ६ ) विद्वज्जनबोधकके उस पद्यमें कुन्दकुन्दका जो समय दिया है और जिसका 'श्रुतावतार' आदि ग्रंथोंसे समर्थन होना भी ऊपर बतलाया गया है उसे भी असत्य कहना होगा; क्योंकि इस समय और उस समयमें करीब २०० वर्षका अन्तर पाया जाता है ।

( ७ ) इसके सिवाय, पट्टावलीमें कुन्दकुन्दसे पहले 'गुप्तिगुप्त' और 'जिनचन्द्र' नामके जिन आचार्योंका उल्लेख है उनकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी भी जरूरत होगी; क्योंकि श्रुतसागरसूरिने, बोधपाहुड़-की टीकामें '**सीसेणय भद्रबाहुस्स**' का अर्थ देते हुए, 'गुप्तिगुप्त' को दशपूर्वधारी 'विशाखाचार्य'का नामान्तर बतलाया है—

**"भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलि-गुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशा-खाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणा मध्ये प्रथ-मेन......।"**

और डाक्टर फ्लीटने उसका समीकरण चंद्रगुप्त (मौर्य) के साथ किया है *। इन दोनों उल्लेखोंसे 'गुप्तिगुप्त' भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य ठहरते हैं परन्तु पट्टावलीमें उन्हें भद्रबाहु द्वितीयका शिष्य अथवा उत्त-राधिकारी सूचित किया है । और शिलालेखोंमें 'गुप्तिगुप्त' नामका कोई उल्लेख ही नहीं मिलता । इसी तरहपर 'जिनचन्द्र'की स्थिति भी संदिग्ध है । जिनचंद्र कुन्दकुन्दके गुरु थे, ऐसा किसी भी समर्थ प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता; शिलालेखोंमें कुन्दकुन्दके गुरुरूपसे जिनचंद्रका तो क्या, दूसरे भी किसी आचार्यका नाम नहीं मिलता । हाँ, कुछ शिलालेखोंमें इतना उल्लेख जरूर पाया जाता है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु श्रुतकेवलीके

---

* देखो 'साउथ इंडियन जैनिज्म,' पृ० २१ ।

शिष्य 'चंद्रगुप्त'के वंशमें हुए हैं ×। इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने, पंचास्तिकायकी टीकामें, जहाँ शिवकुमार महाराजके लिये मूल ग्रंथके रचे जानेका विधान किया है वहीं कुन्दकुन्दको 'कुमारनन्दिसिद्धान्त-देव'का शिष्य भी लिखा है; इससे जिनचंद्रकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी और भी ज्यादा जरूरत थी जिसको चक्रवर्ती महाशयने नहीं किया।

ऐसी हालतमें, चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दका जो समय प्रतिपादन किया है वह निरापद, सुनिश्चित और सहसा ग्राह्य माळूम नहीं होता। और इसलिये, उसके आधार पर समंतभद्रका समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यदि किसी तरह पर कुन्दकुन्दका यही (विक्रमकी १ ली शताब्दी) समय ठीक सिद्ध हो तो समन्तभद्रका समय इससे ५०-६० वर्ष पीछे माना जा सकता है।

## भद्रबाहु-शिष्य कुन्दकुन्द।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित माळूम होता है कि 'बोधप्राभृत' के अन्तमें एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

---

× उदाहरणके लिये देखो श्रवणबेल्गोलके ४० वें शि० लेखका वह अंश जो 'पितृकुल और गुरुकुल' प्रकरणमें उद्धृत किया गया है, अथवा १०८ वें शि० लेखका निम्न अंश—

तदीय-शिष्योऽजनि चंद्रगुप्तः समग्र-शीलानत-देववृद्धः।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभाव-प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्सकुन्दकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥

१ 'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः...श्रीमत्कोण्डकुन्दाचार्यदेवैः...विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे...।'

इन कुमारनन्दिका भी कहींसे कोई समर्थन नहीं होता।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१

इस गाथामें यह बतलाया गया है कि जिनेंद्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूँथा गया है—भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रंथमें) कथन किया है।

इस उल्लेखपरसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'भद्रबाहुशिष्य' का अभिप्राय यहाँ ग्रंथकर्तासे भिन्न किसी दूसरे व्यक्तिका नहीं है, और इसलिये कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य जान पड़ते हैं। उन्होंने इस पद्यके द्वारा—यदि सचमुच ही यह इस ग्रंथका पद्य है तो—अपने कथनके आधारको स्पष्ट करते हुए उसकी विशेष प्रामाणिकताको उद्घोषित किया है। अन्यथा, कुन्दकुन्दसे भिन्न भद्रबाहुके शिष्यद्वारा जाने जाने और कथन किये जानेकी बातका यहाँ कुछ भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। टीकाकार श्रुतसागर भी उस सम्बंधको स्पष्ट नहीं कर सके; उन्होंने 'भद्रबाहु—शिष्य' के लिये जो 'विशाखाचार्य' की कल्पना की है वह भी कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। जान पड़ता है टीकाकारने भद्रबाहुको श्रुतकेवली समझकर वैसे ही उनके एक प्रधान शिष्यका उल्लेख कर दिया है और प्रकरणके साथ कथनके सम्बन्धादिककी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, इसीसे उसे पढ़ते हुए गाथाका कोई सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। अब देखना चाहिये कि ये भद्रबाहु कौन हो सकते हैं जिनका कुन्दकुन्दने अपनेको शिष्य सूचित किया है। श्रुतकेवली तो ये प्रतीत नहीं होते; क्योंकि भद्रबाहुश्रुतकेवलीके शिष्य माने जानेसे कुन्दकुन्द विक्रमसे प्रायः ३०० वर्ष पह-

लेके विद्वान् ठहरते हैं और उस वक्त दशपूर्वधारियों जैसे महाविद्वान् मुनिराजोंकी उपस्थितिमें 'कुन्दकुन्दान्वय'के प्रतिष्ठित होनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती। इस लिये कुन्दकुन्द उन्हीं भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य होने चाहिये जिन्हें प्राचीन ग्रंथकारोंने 'आचारांग' नामक प्रथम अंगके धारियोंमें तृतीय विद्वान् सूचित किया है और पट्टावलीमें जिनके अनन्तर गुप्तिगुप्त, माघनंदी और जिनचंद्रकी कल्पना की गई है। परन्तु पट्टावलीमें इनके आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० सं० ४ दिया है वह कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता—वह उस कालगणनाको लेकर कायम किया गया मालूम होता है जिसके अनुसार एकादशांगधारियोंका समय २२० वर्षकी जगह १२३ वर्ष माना गया है और जिसका किसी प्राचीन ग्रंथसे कोई समर्थन नहीं होता। उस समय पट्टोंकी ऐसी कोई व्यवस्था भी नहीं थी जैसी कि वह बादकी परिपाटीको लक्ष्यमें लेकर लिखी हुई पट्टावलियों अथवा गुर्वावलियोंसे पाई जाती है; और न ऐसा कोई नियम था जिससे एक आचार्यकी मृत्युपर उनके शिष्यको चाहे वह योग्य हो या न हो—विरासतमें आचार्य पद दिया जाता हो; बल्कि उस समयकी स्थितिका ऐसा बोध होता है कि जब कोई मुनि आचार्यपदके योग्य होता था तभी उसको आचार्यपद दिया जाता था और इस तरह पर एक आचार्यके समयमें उनके कई शिष्य भी आचार्य हो जाते थे और पृथक् रूपसे अनेक मुनिसंघोंका शासन करते थे; अथवा कोई कोई आचार्य अपने जीवनकालमें ही आचार्य पदको छोड़ देते थे और संघका शासन अपने किसी योग्य शिष्यके सपुर्द करके स्वयं उपाध्याय या साधु परमेष्टिका पद धारण कर लेते थे। इस लिये बहुत प्राचीन आचार्योंके सम्बंधमें पट्टावलियोंमें दिये हुए उनके आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होनेके समय

और क्रम पर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता। उपलब्ध जैन-साहित्यमें, प्रकृत विषयका उल्लेख करनेवाले प्राचीनसे प्राचीन ग्रंथोंपर-से एकादशांगधारियोंका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्ष पर्यंत पाया जाता है। इसके बाद ११८ वर्षमें चार एकांगधारी तथा कुछ अंग-पूर्वोंके एकदेशधारी भी हुए हैं और इन्हींमें तीसरे नम्बर पर भद्रवाहु द्वितीयका नाम है। इन चारों आचार्योंका, प्राकृत पट्टावलीमें, जो पृथक् पृथक् समय क्रमशः ६,१८,२३, और ५० वर्ष दिया है उसकी एकत्र संख्या ९७ वर्ष होती है। हो सकता है कि इन मुनियोंके कालपरिमाणकी यह संख्या ठीक ही हो और बाकी २१(११८–९७) वर्ष तक प्रधानतः अंगपूर्वोंके एकदेशपाठियोंका समय रहा हो। इस हिसाबसे भद्रबाहु (द्वितीय) का समय वीरनिर्वाणसे ५८९ (५६५+६+१८) वर्षके बाद प्रारंभ हुआ और ६१२ वें वर्ष तक रहा माळूम होता है। अब यदि यह मान लिया जावे—जिसके मान लेनेमें कोई खास बाधा माळूम नहीं होती—कि भद्रबाहुकी समय-समाप्तिसे करीब पाँच वर्ष पहले—वी० नि० से ६०७ वर्षके बाद—ही कुन्दकुन्द उनके शिष्य हुए थे, और साथ ही, पट्टावलीमें जो यह उल्लेख मिलता है कि 'कुन्दकुन्द' ११ वर्षकी अवस्था हो जाने पर मुनि हुए, ३३ वर्ष तक साधारण मुनि रहे और फिर ५१ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे' उसे भी प्रायः सत्य स्वीकार किया जावे, तो कुन्दकुन्दका समय वीरनिर्वाण ६०८ से ६९२ के करीबका हो जाता है। इस समयके भीतर—वीर नि० से ६६२ वर्ष तक—अन्तिम आचारांगधारी 'लोहाचार्य'का समय भी बीत जाता है, और उसके बाद २१ वर्ष तकका अंगपूर्वैकदेशधारियों-अथवा अंगपूर्वपदांशवेदियोंका समय भी निकल जाता है, जिसमें अर्ह-

द्वलि, माघनंदि और धरसेनादिकका समय भी शामिल किया जा सकता है; क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें अंगपूर्वैकदेशधारियोंके कोई खास नाम नहीं दिये, प्राकृत पट्टावलीमें इनके समयकी गणना एकांगधारियोंके समय ( ५६६ से ६८३ तक ) में ही की गई है—अथवा यों कहिये कि इन्हें ही एकांगधारी बतलाया है—, नन्दिसंघकी 'गुर्वावलीमें माघनन्दीको 'पूर्वपदांशवेदी' लिखा है * और 'श्रुतावतार' में अर्हद्वलि, माघनन्दी तथा धरसेन नामके आचार्योंको अंगपूर्वोंके एकदेशज्ञाता सूचित किया है ×। इसके सिवाय, श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ से, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, मालूम होता है कि पुष्पदन्त और भूतबलि अर्हद्वलिके शिष्य थे। इन्हीं पुष्पदन्त और भूतबलिको धरसेनने अपनी मृत्यु निकट देखकर बुलाया था और कर्मप्राभृत शास्त्रका ज्ञान कराया था। इससे अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, ये सब प्रायः एक ही समयके विद्वान् मालूम होते हैं। यह दूसरी बात है कि इनमेंसे कोई कोई एक दूसरेसे कुछ वर्ष पीछे तक भी जीवित रहे हैं, और समकालीन विद्वानोंमें ऐसा प्रायः हुआ ही करता है। बाकी 'ततः' 'तदनन्तर' आदि शब्दोंके द्वारा जो इन्हें कहीं कहीं एक दूस-

* यथा—'श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववंद्यः ॥

× यथा—"सर्वाङ्गपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।
श्रीपुण्ड्रवर्द्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्वल्याख्यः" ॥ ८५ ॥
"तस्यानन्तरमनगारपुंगवो माघनन्दिनामाभूत् ।
सोऽप्यङ्गपूर्वदेशं प्रकाश्य समाधिना दिवं यातः" ॥ १०२ ॥
"अग्रायणीयपूर्वस्थितपञ्चमवस्तुगतचतुर्थमहा—
कर्मप्राभृतज्ञः सूरिर्धरसेननामाभूत्" ॥ १०४ ॥

ऐसे वादका विद्वान् सूचित किया है उसका अभिप्राय एकके मरण और दूसरेके जन्मसे नहीं बल्कि इनकी आचार्यपदप्राप्ति, ज्ञानप्राप्ति आदिके समयसे या बड़ाई छोटाईके खयालसे समझना चाहिये अथवा उसे ग्रंथकर्ताओंकी क्रमशः कथन करनेकी एक शैली भी कह सकते हैं। अस्तु, कुन्दकुन्दके इस समयके प्रतिष्ठित होनेपर उनके द्वारा 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तकी टीकाका लिखा जाना बन सकता है * और पट्टावलीकी उक्त बातको छोड़कर, और भी कितनी ही बातोंपर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म मानने और विक्रम संवत्को राज्यसंवत्—जन्मसे १८ वर्ष बाद प्रचलित हुआ—स्वीकार करनेपर कुन्दकुन्दका संपूर्ण मुनिजीवनकाल वि० सं० १२० से २०४ तक आ जाता है। और यदि प्रचलित विक्रम संवत् मृत्युसंवत् हो या जन्मसंवत् तो इस कालमें ६० वर्षकी कमी या १८ वर्षकी वृद्धि करके उसे क्रमशः ६० से १४४ अथवा १३८ से २२२ तक भी कहा जा सकता है। कुन्दकुन्दके इस लम्बे मुनिजीवनमें, जिसमें करीब ५२ वर्षका उनका आचार्य-काल शामिल है, कुन्दकुन्दकी दो तीन पीढ़ियोंका बीत जाना—उनके समयमें मौजूद होना—कोई अस्वाभाविक नहीं है। आश्चर्य नहीं जो समन्तभद्रका मुनिजीवन उनकी वृद्धावस्थामें ही प्रारंभ हुआ हो और इस तरह पर दोनोंके समयमें प्रायः ६० वर्षका अन्तर हो। ऐसी हालतमें समन्तभद्र क्रमशः विक्रमकी दूसरी तीसरी, दूसरी, या

* यदि कुन्दकुन्दने वास्तवमें 'षट्खण्डागम' की कोई टीका न लिखी हो तो उनका दीक्षाकाल १०–१५ वर्ष और भी पहले माना जासकता है; और तब उनके पिछले समयको १०–१५ वर्ष कम करना होगा।

तीसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते हैं और यह समय डाक्टर भांडारकरकी रिपोर्टमें उल्लेखित उस पट्टावलीके समयके प्रायः अनुकूल पड़ता है जिसमें समन्तभद्रको शक संवत् ६० (वि० सं० १९५) के करीबका विद्वान् बतलाया गया है और जिसे लेविस राइस आदि विद्वानोंने भी प्रमाण माना है।

यदि किसी तरह पर प्राकृत पट्टावलीकी गणना ही दूसरे प्राचीन ग्रंथोंकी गणनाके मुकाबलेमें ठीक सिद्ध हो, और उसके अनुसार भद्रबाहु द्वितीयका वि० सं० ४ में ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना करार दिया जावे; साथ ही, यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्दने वि० सं० १७ में उनसे दीक्षा ली थी, तो इससे कुन्दकुन्दका मुनिजीवनकाल वि० सं० १७ सं० १०१ तक हो जाता है, और यह वही समय है जो नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीमें दिया है और जिसपर चक्रवर्ती महाशयके कथन-सम्बंधमें ऊपर विचार किया जा चुका है। इस समयको मान लेने पर समन्तभद्र तो विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते ही हैं परन्तु उन सब आपत्तियोंके समाधानकी भी जरूरत रहती है जो ऊपर खड़ी की गई हैं, अथवा यह मानना पड़ता है कि कुन्दकुन्दाचार्य अर्हद्बलि, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि और गुणधर आदि आचार्योंसे पहले हुए हैं और उन्होंने पुष्पदन्त-भूतबलिके 'षट्खण्डागम' पर कोई [1]टीका नहीं लिखी।

## तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेव।

(ड) श्रुतावतारमें, समन्तभद्रसे पहले और पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) मुनि तथा शामकुण्डाचार्यके बाद, सिद्धान्तग्रंथोंके टीकाकार-

1 कुन्दकुन्दाचार्यकी बनाई हुई 'षट्खण्डागम' सिद्धान्त ग्रंथपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

रूपसे 'तुम्बुलूराचार्य' नामके एक विद्वानका उल्लेख किया है जो 'तुम्बुलूर' ग्रामके रहनेवाले थे और इसीसे 'तुम्बुलूराचार्य' कहलाते थे । साथ ही, यह बतलाया है कि उन्होंने वह टीका कर्णाट भाषामें लिखी है, ८४ हजार श्लोकपरिमाण है और उसका नाम 'चूडामणि' है * । तुम्बुलूराचार्यका असली नाम 'श्रीवर्द्धदेव' बतलाया जाता है—लेविस राइस, एडवर्ड राइस और एस० जी० नरसिंहाचार्यादि विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें × ऐसा ही प्रतिपादन किया है—परन्तु इस बतलानेका क्या आधार है, यह कुछ स्पष्ट नहीं होता । राजावलिकथेमें[1] 'चूडामणिव्याख्यान' नामसे इस टीकाका उल्लेख है, इसे तुम्बलूराचार्यकी कृति लिखा है और ग्रंथसंख्या भी ८४ हजार दी है; कर्णाटक शब्दानुशासनमें 'चूडामणि' को कनडी भाषाका महान् ग्रंथ बतलाते हुए उसे तत्त्वार्थमहाशास्त्रका व्याख्यान सूचित किया है, ग्रंथसंख्या ९६ हजार दी है परंतु ग्रंथकर्ता-का कोई नाम नहीं दिया, और श्रवणबेलगोलके ५४ वें शिलालेखमें श्री-

---

* यथा—अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे ।
षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥ १६५ ॥
चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम् ।
कर्णाटभाषयाऽकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥ १६६ ॥

× देखो 'इंस्क्रिपशंस ऐट श्रवणबेलगोल' पृ० ४४, हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २४ और 'कर्णाटककविचरिते'के आधारपर पं० नाथूरामजी प्रेमी–लिखित 'कर्णाटकजैनकवि' पृ० ५ ।

१ देखो राजावलिकथेका निम्न अवतरण जिसे राइस साहवने श्रवणबे-लगोलके शिलालेखोंकी प्रस्तावनामें उद्धृत किया है—

'तुम्बुलूराचार्य्यर एम्भत्त—नाल्कु-सासिर-ग्रन्थ-कर्तृगलागिं कर्णाटकभाषेयिं चूडामणि-व्याख्यानमं माडिदरु ।'

वर्द्धदेवको 'चूडामणि' नामक सेव्य काव्यका कवि बतलाया है और उनकी प्रशंसामें दण्डी कविद्वारा कहा हुआ एक श्लोक भी उद्धृत किया है, यथा—

"चूडामणिः कवीनां चूडामणि-नाम-सेव्यकाव्यकविः।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्तिमाहर्त्तुं॥"

य एवमुपश्लोकितो दण्डिना—

"जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं॥"

जान पड़ता है इतने परसे ही—ग्रंथके 'चूडामणि' नामकी समानताको लेकर ही—तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्यक्ति करार दिया गया है। परन्तु राजावलिकथे और कर्णाटकशब्दानुशासनमें 'चूडामणि'को जिस प्रकारसे एक व्याख्यान (टीकाग्रंथ) प्रकट किया है उस प्रकारका उल्लेख शिलालेखमें नहीं मिलता, शिलालेखमें स्पष्ट रूपसे उसे एक 'सेव्य-काव्य' लिखा है और वह काव्य कनड़ी भाषाका है ऐसा भी कुछ सूचित नहीं किया है। इसके सिवाय राजावलिकथे आदिमें उक्त व्याख्यानके साथ श्रीवर्द्धदेवके नामका कोई उल्लेख भी नहीं है। इस लिये दोनोंको एक ग्रंथ मान लेना और उसके आधारपर तुम्बुलूराचार्यका श्रीवर्द्धदेवके साथ समीकरण करना संदेहसे खाली नहीं है। आश्चर्य नहीं जो 'चूडामणि' नामका कोई जुदा ही उत्तम संस्कृत काव्य हो और उसीको लेकर दण्डीने, जो स्वयं संस्कृत भाषाके महान् कवि थे, श्रीवर्द्धदेवकी प्रशंसामें उक्त श्लोक कहा हो। परन्तु यदि यही

१ अर्थात्—हे श्रीवर्द्धदेव! महादेवने तो जटाग्रमें गंगाको धारण किया था और तुम सरस्वतीको जिह्वाग्रमें धारण किये हुए हो।

मान लिया जाय और यही मानना ठीक हो कि दण्डीकविद्वारा स्तुत श्रीवर्द्धदेव और तुम्बुलूराचार्य दोनों एक ही व्यक्ति थे तो हमें इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि श्रुतावतारमें समन्तभद्रको तुम्बुलूराचार्यके बादका जो विद्वान् प्रकट किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि दण्डीके उक्त श्लोकसे श्रीवर्द्धदेव दण्डीके समकालीन विद्वान् माॡम होते हैं, और दण्डी ईसाकी छठी अथवा विक्रमकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे * । ऐसी हालतमें श्रीवर्द्धदेव किसी तरह पर भी समन्तभद्रसे पहलेके विद्वान् नहीं हो सकते; बल्कि उनसे कई शताब्दी पीछेके विद्वान् माॡम होते हैं।

## गंगराज्यके संस्थापक सिंहनन्दी ।

( च ) शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेमें हूमच स्थानसे मिला हुआ ३५ नम्बरका एक बहुत बड़ा कनड़ी शिलालेख है, जो शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है और एपिग्रेफिया कर्णाटिकाकी आठवीं जिल्दमें प्रकाशित हुआ है। इस शिलालेखपरसे माॡम होता है कि भद्रबाहु स्वामीके बाद यहाँ कलिकालका प्रवेश हुआ—उसका वर्तना आरंभ हुआ—गणभेद उत्पन्न हुआ और फिर उनके वंशक्रममें समन्तभद्र स्वामी उदयको प्राप्त हुए, जो '**कलिकालगणधर**' और '**शास्त्रकार**' थे। समन्तभद्रकी शिष्य-संतानमें सबसे पहले 'शिवकोटि' आचार्य हुए, उनके बाद 'वरदत्ताचार्य,' फिर 'तत्त्वार्थसूत्र' के कर्त्ता

---

* देखो लेविस राइसद्वारा संपादित 'इंस्क्रिपशंस ऐट श्रवणबेलगोल' पृष्ठ ४४, १३५; और 'वेबर्स हिस्टरी आफ़ इंडियन लिटरेचर,' पृ० २१३, २३२ ।

१ मल्लिषेणप्रशस्तिमें आर्यदेवको 'राद्धान्त-कर्त्ता' लिखा है और यहाँ 'तत्त्वार्थसूत्रकर्ता।' इससे 'राद्धान्त' और 'तत्त्वार्थसूत्र' दोनों एक ही ग्रंथके नाम माॡम होते हैं।

'आर्यदेव,' आर्यदेवके पश्चात् गंगराज्यका निर्माण करनेवाले 'सिंहनन्दि' आचार्य और सिंहनन्दिके पश्चात् एकसंधि 'सुमति भट्टारक' हुए। इनके बाद 'कमलभद्र' पर्यंत और भी कितने ही आचार्योंके नामों तथा कहीं कहीं उनके कार्मोंका भी क्रमशः उल्लेख किया है। इस शिलालेखका कुछ अंश इस प्रकार है—

"....श्रीवर्द्धमानस्वामिगल तीर्थं प्रवर्तिसे गौतमगणधरर् एने त्रिज्ञानिगल् अप्प मुणिगल् सलेयू अवरिं चतुरंगुलऋद्धि प्रासर् एनिसिद कोण्डकुन्दाचार्य्यरिं केलव-कालं योगे भद्रबाहुस्वामिगलिन्द् इत्त कलिकालवर्त्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदुद् अवर अन्वयक्रमदिं कलिकालगणधरुं शास्त्रकर्त्तुगलुम् एनिसिद समन्तभद्रस्वामिगल् अवर शिष्यसंतानं शिवकोट्याचार्य्यर् अवरिं वरदत्ताचार्य्यर् अवरिं तत्वार्थसूत्रकर्त्तुगल् एनिसिद् आर्य्यदेवर् अवरिं गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर् अवरिन्द् एकसंधिसुमतिभट्टारकर् अवरिं। ....—"

इस लेख परसे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जिन सिंहनन्दि आचार्यका गंगराज्यकी संस्थापनासे सम्बंध है वे समन्तभद्रस्वामीके बाद हुए हैं। यद्यपि, इस शिलालेखमें कुछ आचार्योंके नाम आगे पीछे क्रमभंगको लिये हुए भी पाये जाते हैं—जिसका एक उदाहरण भद्रबाहुस्वामीको कुन्दकुन्दसे कुछ काल बादका विद्वान् सूचित करना है—और इसलिये आचार्योंके क्रमसम्बंधमें यह शिलालेख सर्वथा प्रमाण नहीं माना जा सकता; फिर भी इसमें सिंहनन्दिको समन्तभद्रके बादका

१ सिंहनन्दिके इस विशेषण 'गंगराज्यम माडिद' का अर्थ लेविस राइसने who made the Ganga Kingdom दिया है—अर्थात् यह बतलाया है कि 'जिन्होंने गंगराज्यका निर्माण किया,' (वे सिंहनन्दी आचार्य)।

जो विद्वान् सूचित किया है उसका समर्थन इसी नगर ताल्लुकेके दूसरे शिलालेखोंसे भी होता है जिनके नम्बर ३६ और ३७ हैं। और जो क्रमशः ९९९,१०६९ शक संवतोंके लिखे हुए हैं। यथा—

"....श्रुतकेवलिगळ् एनिसिद (एनिप ३७) भद्रबाहुस्वामिगळ् (गळंग ३७) मोदलागि पलम्बर् (हलम्बर ३७) आचार्यर् पोदिम्बलियं समन्तभद्रस्वामिगळ् उदपिसिदर् अवर अन्वय-दोल (अनन्तरं ३७) गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्यर अवरिं....— ।"[1]

इसके सिवाय, दूसरा ऐसा कोई भी शिलालेख देखनेमें नहीं आता जिसमें, समन्तभद्र और सिंहनन्दि दोनोंका नाम देते हुए, सिंहनन्दिको समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् सूचित किया हो अथवा कमसे कम समन्तभद्रसे पहले सिंहनन्दिके नामका ही उल्लेख किया हो। ऐसी हालतमें समन्तभद्रके सिंहनन्दिसे पूर्ववर्ती विद्वान् होनेकी संभावना अधिक पाई जाती है। यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही हो तो इससे लेविस राइस साहबके उस अनुमानका समर्थन होता है जिसे उन्होंने केवल मल्लिषेणप्रशस्तिमें[2] इन विद्वानोंके आगे पीछे नामोल्लेखको देखकर ही लगाया था और इसलिये जो सदोष तथा अपर्याप्त था। इन बादको मिले हुए शिलालेखोंमें 'अवरिं' 'अवर अन्वयदोळ्' और 'अवर अनन्तरं' शब्दोंके द्वारा

---

१ यह ३६ वें शिलालेखका अंश है, ३७ वेंमें भी यह अंश प्रायः इसी प्रकारसे दिया हुआ है, जहाँ कुछ भेद है उसे कोष्टकमें दिखलाकर उसपर नम्बर ३७ दे दिया गया है।

२ मल्लिषेणप्रशस्ति श्रवणबेल्गोलका ५४ वाँ शिलालेख है जो सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था, और नगर ताल्लुकेके उक्त शिलालेख सन् १९०४ में प्रकाशित हुए हैं। वे सन् १८८९ में राइस साहबके सामने मौजूद नहीं थे।

इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि सिंहनन्दि समन्तभद्रके बाद हुए हैं। अस्तु; ये सिंहनन्दि गंगवंशके प्रथम राजा 'कोंगुणिवर्मा'के समकालीन थे और यह बात पहले भी जाहिर की जा चुकी है। सिंहनन्दिने गंगराज्यकी स्थापनामें क्या सहायता की थी, इसका कितना ही उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है, जिसे यहाँ पर उद्धृत करनेकी कोई जरूरत मालूम नहीं होती। यहाँ पर हम सिर्फ इतना ही प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि कोंगुणिवर्माका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी माना गया है। उनका एक शिलालेख शक सं० २५ का 'नंजनगूढ' ताल्लुकेसे उपलब्ध हुआ है, जिससे मालूम होता है कि कोंगुणिवर्मा वि० सं० १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ थे। प्रायः यही समय सिंहनन्दिका होना चाहिये, और इस लिये कहना चाहिये कि समन्तभद्र वि० सं० १६० से पहले हुए हैं; परंतु कितने पहले, यह अप्रकट है। फिर भी पूर्ववर्ती मान लेने पर कमसे कम ३० वर्ष पहले तो समन्तभद्रका होना मान ही लिया जा सकता है; क्योंकि ३५ वें शिलालेखमें सिंहनन्दिसे पहले आर्यदेव, वरदत्त और शिवकोटि नामके तीन आचार्योंका और भी उल्लेख पाया जाता है, जिनके लिये १०–१० वर्षका समय मान लेना कुछ अधिक नहीं है। इससे समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् मालूम होते हैं। और यह समय उस समयके साथ मेल खाता

१ इस शिलालेखका नंबर ११० और आशांश निम्न प्रकार है—
"स्वस्ति श्रीमत्कोंगुणिवर्म्मधर्म्ममहाधिराज प्रथम गंगस्य दत्तं शकवर्षगतेषु पंचविंशति २५ नेय शुभकृतु संवत्सरसु फाल्गुनशुद्ध पंचमी शनि रोहिणि...... ।"

—एपि० कर्णा०, जिल्द ३ री, सन् १८९४

है जो कुन्दकुन्दको भद्रवाहुका शिष्य मानकर तथा विक्रमसंवतको मृत्यु-संवत् स्वीकार करके ऊपर वतलाया गया है, अथवा भद्रवाहुको वि० सं० ४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेवाला मान लेने पर नन्दिसंघकी पट्टावलीमें दिये हुए कुन्दकुन्दके समयाधार पर जिसकी कल्पना की गई है। अस्तु।

समय-सम्बंधी इस सव कथन अथवा विवेचन परसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समन्तभद्रके समय-निर्णय-पथमें कितनी रुकावटें पैदा हो रही हैं—क्या क्या दिक्कतें आरही हैं—और कैसी कैसी कठिन अथवा जटिल समस्याएँ उपस्थित हैं, जिन सवको दूर अथवा हल-किये विना समन्तभद्रके यथार्थ समय-सम्बन्धमें कोई जँची तुली एक वात नहीं कही जा सकती। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रमकी पाँचवीं शताव्दीसे पीछे अथवा ईसवी सन् ४५० के वाद नहीं हुए; और न वे विक्रमकी पहली शताव्दीसे पहलेके ही विद्वान् माल्रम होते हैं—पहलीसे ५ वीं तक पाँच शताव्दियोंके मध्यवर्ती किसी समयमें ही वे हुए हैं। स्थूल रूपसे विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रमकी प्राय: दूसरी या दूसरी और तीसरी शताव्दीके विद्वान् माल्रम होते हैं। परन्तु निश्चयपूर्वक यह वात भी अभी नहीं कही जा सकती। इस समयका विशेष विचार अवसरादिक मिलने पर दूसरे संस्करणके समय किया जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही प्राचीन आचार्योंका समय इसी तरहकी अनिश्चितावस्था तथा गड़वड़में पड़ा हुआ है और उद्धार किये जानेके योग्य है। समन्तभद्रका समय सुनिश्चित होनेपर उन सभीके समयोंका वहुत कुछ उद्धार हो जायगा। साथ ही, वीर-निर्वाण, विक्रम और शक संवतोंकी समस्याएँ भी हल हो जायँगी; ऐसी दृढ आशा की जाती है।

समय-निर्णय-विषयक इस निवन्धको पढ़कर जो विद्वान् हमें निर्णयमें सहायक ऐसी कोई भी खास वात सुझाएँगे उनका हम हृदयसे आभार मानेंगे।

---

# ग्रन्थ-परिचय।



स्वामी समन्तभद्राचार्यने कुल कितने ग्रंथोंकी रचना की, वे किस किस विषय अथवा नामके ग्रंथ हैं, प्रत्येककी श्लोकसंख्या क्या है, और उन पर किन किन अचार्यों तथा विद्वानोंने टीका, टिप्पण अथवा भाष्य लिखे हैं; इन सब बातोंका पूरा विवरण देनेके लिये, यद्यपि, साधनाभावसे हम तय्यार नहीं हैं, फिर भी आचार्य महोदयके बनाये हुए जो जो ग्रंथ इस समय उपलब्ध होते हैं, और जिनका पता चलता या उल्लेख मिलता है उन सबका कुछ परिचय, अथवा यथावश्यकता उन पर कुछ विचार, नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

## १ आप्तमीमांसा।

समन्तभद्रके उपलब्ध ग्रंथोंमें यह सबसे प्रधान ग्रंथ है और ग्रंथका यह नाम उसके विषयका स्पष्ट द्योतक है। इसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं। 'भक्तामर' आदि कितने ही स्तोत्रोंके नाम जिस प्रकार उनके कुछ आद्यक्षरों पर अवलम्बित हैं उसी प्रकार 'देवागम' शब्दोंसे प्रारंभ होनेके कारण यह ग्रंथ भी 'देवागम' कहा जाता है; अथवा अर्हन्त देवका आगम इसके द्वारा व्यक्त होता है—उसका तत्त्व साफ तौरपर समझमें आजाता है—और यह उसके रहस्यको लिये हुए है, इससे भी यह ग्रंथ 'देवागम' कहलाता है। इस ग्रंथके श्लोकों अथवा कारिकाओंकी संख्या ११४ है। परंतु 'इतीयमाप्तमीमांसा' नामके पद्य नं० ११४ के बाद 'वसुनन्दि' आचार्यने, अपनी 'देवागमवृत्ति'में, नीचे लिखा पद्य भी दिया है—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्टान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥ ११५ ॥

यह पद्य यदि वृत्तिके अंतमें ऐसे ही दिया होता तो हम यह नतीजा निकाल सकते थे कि यह वसुनन्दि आचार्यका ही पद्य है और उन्होंने अपनी वृत्तिके अन्त-मंगलस्वरूप इसे दिया है । परंतु उन्होंने इसकी वृत्ति दी है और साथ ही इसके पूर्व निम्न प्रस्तावनावाक्य भी दिया है—

**"कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीसमन्तभद्र-केसरी प्रमाण-नयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारित-प्रवादिकुनयमदविह्वलकुंभिकुंभस्थलपाटनपटुरिदमाह—"**

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि यह पद्य वसुनन्दि आचार्यका नहीं है, दूसरे यह कि वसुनन्दिने इसे समन्तभद्रका ही, ग्रंथके अन्त मंगलस्वरूप, पद्य समझा है और वैसा समझ कर ही इसे वृत्ति तथा प्रस्तावनासहित दिया है । परंतु यह पद्य, वास्तवमें, मूल ग्रंथका अन्तिम पद्य है या नहीं यह बात अवश्य ही विचारणीय है और उसीका यहाँ पर विचार किया जाता है—

इस ग्रंथपर भट्टाकलंकदेवने एक भाष्य लिखा है जिसे **'अष्टशती'** कहते हैं और श्रीविद्यानंदाचार्यने **'अष्टसहस्री'** नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसे 'आप्तमीमांसालंकृति' तथा 'देवागमालंकृति' भी कहते हैं । इन दोनों प्रधान तथा प्राचीन टीकाग्रंथोंमें इस पद्यको मूल ग्रंथका कोई अंग स्वीकार नहीं किया गया और न इसकी कोई

व्याख्या ही की गई है। 'अष्टशती'में तो यह पद्य दिया भी नहीं। हाँ, 'अष्टसहस्री'में टीकाकी समाप्तिके बाद, इसे निम्न वाक्यके साथ दिया है—

'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यंते।'

उक्त पद्यको देनेके बाद 'श्रीमदकलंकदेवाः पुनरिदं वदन्ति' इस वाक्यके साथ 'अष्टशती'का अन्तिम मंगलपद्य उद्धृत किया है; और फिर निम्न वाक्यके साथ, श्रीविद्यानंदाचार्यने अपना अन्तिम मंगल-पद्य दिया है—

"इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मंगलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः।"

अष्टसहस्रीके इन वाक्योंसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'अष्टशती' और 'अष्टसहस्री' के अन्तिम मंगल वचनोंकी तरह यह पद्य भी किसी दूसरी पुरानी टीकाका मंगल वचन है, जिससे शायद विद्यानंदाचार्य परिचित नहीं थे अथवा परिचित भी होंगे तो उन्हें उसके रचयिताका नाम ठीक माळूम नहीं होगा। इसीलिये उन्होंने, अकलंकदेवके सदृश उनका नाम न देकर, 'केचित्' शब्दके द्वारा ही उनका उल्लेख किया है। हमारी रायमें भी यही बात ठीक जँचती है। ग्रंथकी पद्धति भी उक्त पद्यको नहीं चाहती। माळूम होता है वसुनन्दि आचार्यको 'देवागम' की कोई ऐसी ही मूल प्रति उपलब्ध हुई है जो साक्षात् अथवा परम्परया उक्त टीका परसे उतारी गई होगी और जिसमें टीकाका उक्त मंगल पद्य भी गलतीसे उतार लिया गया होगा। लेखकोंकी नासमझीसे ऐसा बहुधा ग्रंथप्रतियोंमें देखा जाता है। 'सनातनग्रंथमाला' में प्रकाशित 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'के अन्तमें भी टीकाका 'यो निःशेषजिनोक्त'

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्टान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥ ११५ ॥

यह पद्य यदि वृत्तिके अंतमें ऐसे ही दिया होता तो हम यह नतीजा निकाल सकते थे कि यह वसुनन्दि आचार्यका ही पद्य है और उन्होंने अपनी वृत्तिके अन्त-मंगलस्वरूप इसे दिया है। परंतु उन्होंने इसकी वृत्ति दी है और साथ ही इसके पूर्व निम्न प्रस्तावनावाक्य भी दिया है—

**"कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीसमन्तभद्र-केसरी प्रमाण-नयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारित-प्रवादिकुनयमदविह्वलकुंभिकुंभस्थलपाटनपटुरिदमाह— "**

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि यह पद्य वसु-नन्दि आचार्यका नहीं है, दूसरे यह कि वसुनन्दिने इसे समन्तभद्रका ही, ग्रंथके अन्त मंगलस्वरूप, पद्य समझा है और वैसा समझ कर ही इसे वृत्ति तथा प्रस्तावनासहित दिया है। परंतु यह पद्य, वास्तवमें, मूल ग्रंथका अन्तिम पद्य है या नहीं यह बात अवश्य ही विचारणीय है और उसीका यहाँ पर विचार किया जाता है—

इस ग्रंथपर भट्टाकलंकदेवने एक भाष्य लिखा है जिसे **'अष्टशती'** कहते हैं और श्रीविद्यानंदाचार्यने **'अष्टसहस्री'** नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसे 'आप्तमीमांसालंकृति' तथा 'देवागमालंकृति' भी कहते हैं। इन दोनों प्रधान तथा प्राचीन टीकाग्रंथोंमें इस पद्यको मूल ग्रंथका कोई अंग स्वीकार नहीं किया गया और न इसकी कोई

है *। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इस ग्रंथके ११४ श्लोक कितने अधिक महत्त्व, गांभीर्य तथा गूढार्थको लिये हुए हैं; और इस लिये, श्रीवीरनंदि आचार्यने ‘ निर्मलवृत्तमौक्तिका हारयष्टि ’ की तरह और नरेंद्रसेनाचार्यने ‘ मनुष्यत्व ’ के समान समंतभद्रकी भारतीको जो ‘ दुर्लभ ’ बतलाया है उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। वास्तवमें इस ग्रंथकी प्रत्येक कारिकाका प्रत्येक पद ‘ सूत्र ’ है और वह बहुत ही जाँच तौलकर रक्खा गया है—उसका एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है। यही वजह है कि समंतभद्र इस छोटेसे कूजेमें संपूर्ण मतमतान्तरोंके रहस्य-रूपी समुद्रको भर सके हैं और इस लिये उसको अधिगत करनेके लिये गहरे अध्ययन, गहरे मनन और विस्तीर्ण हृदयकी खास जरूरत है।

हिन्दीमें भी इस ग्रंथपर पंडित जयचंद्रायजीकी बनाई हुई एक टीका मिलती है जो प्रायः साधारण है। सबसे पहले यही टीका हमें उपलब्ध हुई थी और इसी परसे हमने इस ग्रंथका कुछ प्राथमिक परिचय प्राप्त किया था। उस वक्त तक यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था, और इसलिये हमने बड़े प्रेमके साथ, उक्त टीकासहित, इस ग्रंथकी प्रतिलिपि स्वयं अपने हाथसे उतारी थी। वह प्रतिलिपि अभी तक हमारे पुस्तकालयमें सुरक्षित है। उस वक्तसे बराबर हम इस मूल ग्रंथको देखते आ रहे हैं और हमें यह बड़ा ही प्रिय मालूम होता है।

इस ग्रंथपर कनड़ी, तामिलादि भाषाओंमें भी कितने ही टीका-टिप्पण, विवरण और भाष्य ग्रंथ होंगे परंतु उनका कोई हाल हमें

* इस विषयमें, श्वेताम्बर साधु मुनिजिनविजयजी भी लिखते हैं—

“यह देखनेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रन्थ मालूम होता है, पर इसका गांभीर्य इतना है कि, इस पर सैकड़ों-हजारों श्लोकोंवाले बड़े बड़े गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है।”—जैनहितैषी भाग १४, अंक ६।

मालूम नहीं है; इसी लिये यहाँपर उनका कुछ भी परिचय नहीं दिया जा सका ।

## २ युक्त्यनुशासन ।

समन्तभद्रका यह ग्रंथ भी वड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा अपूर्व है और इसका भी प्रत्येक पद वहुत ही अर्थगौरवको लिये हुए है। इसमें, स्तोत्रप्रणालीसे, कुल ६४ * पद्यों द्वारा, स्वमत और परमतोंके गुणदोषोंका, सूत्ररूपसे, वड़ा ही मार्मिक वर्णन दिया है, और प्रत्येक विषयका निरूपण, वड़ी ही खूबीके साथ, प्रवल युक्तियोंद्वारा किया गया है। यह ग्रंथ जिज्ञासुओंके लिये हितान्वेषणके उपायस्वरूप है और इसी मुख्य उद्देश्यको लेकर लिखा गया है; जैसा कि ऊपर समंतभद्रके परिचयमें इसीके एक पद्यपरसे, जाहिर किया जा चुका है। श्रीजिनसेनाचार्यने इसे महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य लिखा है। इस ग्रंथपर अभीतक श्रीविद्यानंदाचार्यकी वनाई हुई एक ही सुन्दर संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है और वह 'माणिकचंद-ग्रंथमाला'में प्रकाशित भी हो चुकी है। इस टीकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे मालूम होता है कि यह ग्रंथ 'आप्तमीमांसा'के वादका वना हुआ है—

**"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद्व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवंत इति ते पृष्टा इव प्राहुः—"**

---

* सन् १९०५ में प्रकाशित 'सनातनजैनग्रन्थमाला'के प्रथम गुच्छकमें इस ग्रंथके पद्योंकी संख्या ६५ दी है, परंतु यह भूल है। उसमें ४० वें नम्बर पर जो 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने' नामका पद्य दिया है वह टीकाकारका पद्य है, मूलग्रंथका नहीं। और मा० ग्रंथमालामें प्रकाशित इस ग्रंथके पद्यों पर गलत नम्बर पड़ जानेसे ६५ संख्या मालूम होती है।

## ३ 'स्वयंभू'स्तोत्र।

इसे 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' और 'समन्तभद्रस्तोत्र' भी कहते हैं। 'स्वयंभुवा' पदसे प्रारंभ होनेके कारण यह 'स्वयंभूस्तोत्र', समाजमें दूसरा छोटा 'स्वयंभूस्तोत्र' भी प्रचलित होनेसे यह 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' और समन्तभद्रद्वारा विरचित होनेसे यह 'समंतभद्रस्तोत्र' कहलाता है। इसके सिवाय, इसमें चतुर्विंशति स्वयंभुवोंकी—तीर्थकरों अथवा जिनदेवोंकी—स्तुति है इससे भी इस स्तोत्रका सार्थक नाम 'स्वयंभू-स्तोत्र' है। इस ग्रंथमें अर, नेमि और महावीरको छोड़कर शेप २१ तीर्थकरोंकी स्तुति पाँच पाँच पद्योंमें की गई है और उक्त तीन तीर्थंकरोंकी स्तुतिके पद्य क्रमशः २०,१० और ८ दिये हैं। इस तरहपर इस ग्रंथकी कुल पद्यसंख्या १४३ है। यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्त्वशाली है, निर्मल सूक्तियोंको लिये हुए है, प्रसन्न तथा स्वल्प पदोंसे विभूषित है और चतुर्विंशति जिनदेवोंके धर्मको प्रतिपादन करना ही इसका एक विषय है। इसमें कहीं कहीं पर—किसी किसी तीर्थंकरके सम्बन्धमें—कुछ पौराणिक तथा ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया गया है, जो बड़ा ही रोचक मालूम होता है। उस उल्लेखको छोड़कर शेप संपूर्ण ग्रंथ स्थान स्थान पर, तात्त्विक वर्णनों और धार्मिक शिक्षाओंसे परिपूर्ण है। यह ग्रंथ अच्छी तरहसे समझकर नित्य पाठ किये जानेके योग्य हैं।

इस ग्रंथ पर क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचंद्र आचार्यकी बनाई हुई अभी तक एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है। टीका

१ 'जैनसिद्धान्त भवन आरा'में इस ग्रंथकी कितनी ही ऐसी प्रतियाँ कनड़ी अक्षरोंमें मौजूद हैं जिन पर ग्रंथका नाम 'समंतभद्रस्तोत्र' लिखा है।

साधारणतया अच्छी है परंतु ग्रंथके रहस्यको अच्छी तरह उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है । इस ग्रंथपर अवश्य ही दूसरी कोई उत्तम टीका भी होगी, जिसे भंडारोंसे खोज निकालनेकी जरूरत है। यह स्तोत्र 'क्रियाकलाप' ग्रंथमें भी संग्रह किया गया है, और क्रियाकलापपर पं० आशाधरजीकी भी एक टीका कही जाती है, इससे इस ग्रंथपर पं० आशाधरजीकी भी टीका होनी चाहिये ।

## ४ जिनस्तुतिशतक।

यह ग्रंथ 'स्तुतिविद्या,' 'जिनस्तुतिशतं,' 'जिनशतक' और 'जिनशतकालंकार' नामोंसे भी प्रसिद्ध है । '**स्तुतिविद्या**' यह नाम ग्रंथके '**स्तुतिविद्यां प्रसाधये**' इस आदिम प्रतिज्ञावाक्यसे निकलता है, '**जिनस्तुतिशतं**' नाम ग्रंथके अन्तिम कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तसे पाया जाता है, उसीका '**जिनस्तुतिशतक**' हो गया है। और '**जिनशतक**' यह संक्षिप्त नाम टीकाकारने अपनी टीकामें सूचित किया है । अलंकारप्रधान होनेसे इसे ही '**जिनशतकालंकार**' भी कहते हैं। यह ग्रंथ भक्तिरससे लबालब भरा हुआ है, रचनाकौशल तथा चित्रकाव्योंके उत्कर्षको लिये हुए है, सर्व अलंकारोंसे भूषित है और इतना दुर्गम तथा कठिन है कि विना संस्कृतटीकाकी सहायताके अच्छे अच्छे विद्वान् भी इसे सहसा नहीं लगा सकते । इस ग्रंथका कितना ही परिचय पहले दिया जा चुका है। इसके पद्योंकी संख्या ११६ है और उन पर एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है जो नरसिंह भट्टकी बनाई हुई है । नरसिंह भट्टकी टीकासे पहले इस ग्रंथपर दूसरी कोई टीका नहीं थी, ऐसा टीकाकारके एक वाक्यसे पाया जाता है; और उसका यही अर्थ हो सकता है कि नरसिंहजीके समयमें अथवा उनके देशमें, इस ग्रंथकी कोई टीका उपलब्ध नहीं थी । उससे पहले

कोई टीका इस ग्रंथपर बनी ही नहीं, यह अर्थ समझमें नहीं आता और न युक्तिसंगत ही मालूम होता है। अस्तु, यह टीका अच्छी और उपयोगी बनी है।

समंतभद्रने, ग्रंथके प्रथम पद्यमें, अपनी इस रचनाका उद्देश 'आगसां जये' पदके द्वारा पापोंको जीतना सूचित किया है और टीकाकारने भी इस स्तुतिको 'घनकठिनघातिकर्मेंधनदहनसमर्था' लिखा है। इससे पाठक इस ग्रंथके आध्यात्मिक महत्त्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

## ५ 'रत्नकरंडक' उपासकाध्ययन।

इसे 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं। उपलब्ध ग्रंथोंमें, श्रावकाचार विषयका, यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। श्रीवादिराजसूरिने इसे 'अक्षय्यसुखावह' और प्रभाचंद्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य' लिखा है। इसका विशेष परिचय और इसके पद्योंकी जाँच आदि-विषयक विस्तृत लेख इस ग्रंथकी प्रस्तावनामें दिया गया है।

---

१ यह विशेषण 'पार्श्वनाथचरित'के जिस पद्यमें दिया है वह पहले 'गुणादिपरिचय'में उद्धृत किया जा चुका है।

२. देखो, रत्नकरण्डकटीकाका अन्तिम पद्य, जो इस प्रकार है—

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान्प्रभेन्दुर्जिनः॥

३ इस विस्तृत 'प्रस्तावना'में नीचे लिखे विषय हैं—

यहाँपर हम सिर्फ इतना ही बतला देना चाहते हैं कि इस ग्रंथपर अभीतक केवल एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है, जो प्रभाचंद्राचार्यकी बनाई हुई है और वह प्रायः साधारण है। हाँ, '**रत्नकरंडकविषमपदव्याख्यान**' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी इस ग्रंथपर मिलता है, जिसके कर्त्ताका नाम उस परसे मालूम नहीं हो सका। यह टिप्पण आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है। कनड़ी भाषामें भी इस ग्रंथकी कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परंतु उनके रचयिताओं आदिका भी कुछ पता नहीं चल सका। तामिल भाषाका 'अरुंगलछेप्पु' (रत्नकरंडक) ग्रंथ, जिसकी पद्य-संख्या १८० है, इस ग्रंथको सामने रखकर बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है *। परंतु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते हैं।

## ६ जीवसिद्धि।

इस ग्रंथका पता श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत 'हरिवंशपुराण' के उस पद्यसे चलता है जो '**गुणादिपरिचय**' में उद्धृत किया जा चुका है। ग्रंथका विषय उसके नामसे ही प्रकट है और वह बड़ा ही उपयोगी विषय है। श्रीजिनसेनाचार्यने समंतभद्रके इस प्रवचनको

---

१ ग्रन्थपरिचय, २ ग्रन्थपर संदेह, ३ ग्रंथके पद्योंकी जाँच, ४ संदिग्ध पद्य, ५, अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ, ६ जाँचका सारांश, ७ टीका और टीकाकार प्रभाचन्द्र।

* यह राय हमने इस ग्रंथके उस अंग्रेजी अनुवादपरसे कायम की है जो गत वर्ष १९२३-२४ के अंग्रेजी जैनगजटके कई अंकोंमें the Casket of Gems नामसे प्रकाशित हुआ है।

भी महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य बतलाया है। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ कितने अधिक महत्त्वका होगा। दुर्भाग्यसे यह ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। मालूम नहीं किस भंडारमें बंद पड़ा हुआ अपना जीवन शेष कर रहा है अथवा शेष कर चुका है। इसके शीघ्र अनुसंधानकी बड़ी जरूरत है।

## ७ तत्त्वानुशासन।

'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें दिये हुए समन्तभद्रके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी एक नाम है। श्वेताम्बर कान्फ्रेंसद्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली' में भी 'तत्त्वानुशासन'को समन्तभद्रका बनाया हुआ लिखा है, और साथ ही यह भी प्रकट किया है कि उसका उल्लेख सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टमें है जो पिटर्सनसाहबकी नौकरीमें थे। और भी कुछ विद्वानोंने, समंतभद्रका परिचय देते हुए, उनके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन'का भी नाम दिया है। इस तरह पर इस ग्रंथके अस्तित्वका कुछ पता चलता है। परंतु यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। अनेक प्रसिद्ध भंडारोंकी सूचियाँ देखनेपर भी हमें यह मालूम नहीं हो सका कि यह ग्रंथ किस जगह मौजूद है और न इसके विषयमें हम अभीतक किसी शास्त्रवाक्यादिपरसे यह ही पूरी तौरपर निश्चय कर सके हैं कि समंतभद्रने, वास्तवमें, इस नामका कोई ग्रंथ बनाया है, फिर भी यह खयाल जरूर होता है कि समंतभद्रका ऐसा कोई ग्रंथ होना चाहिये। खोज करनेसे इतना पता जरूर चलता है कि रामसेनके उस 'तत्त्वानुशासन'से भिन्न, जो माणिकचंद्रग्रंथमालामें 'नागसेन'[1] के नामसे मुद्रित हुआ है, कोई

१ 'नागसेन' नाम गलतीसे दिया गया है। वास्तवमें यह ग्रन्थ नागसेनके शिष्य 'रामसेन' का बनाया हुआ है; और यह बात हमने एक लेखद्वारा सिद्ध की थी जो जुलाई सन् १९२० के जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ है।

दूसरा 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथ भी बना है, जिसका एक पद्य 'नियमसारकी 'पद्मप्रभ' मलधारिदेव-विरचित टीकामें, '**तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने**' इस वाक्यके साथ, पाया जाता है और वह पद्य इस प्रकार है—

"**उत्सर्ज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणं ।**
**स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥**"

यह पद्य 'माणिकचंदग्रंथमाला'में प्रकाशित उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, और इस लिये यह किसी दूसरे ही '**तत्त्वानुशासन**'का पद्य है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। पद्य परसे ग्रंथ भी कुछ कम महत्त्वका मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि जिस 'तत्त्वानुशासन'का उक्त पद्य है वह स्वामी समंतभद्रका ही बनाया हुआ हो।

इसके सिवाय, श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने, अपने '**अनेकान्तजयपताका**'में 'वादिमुख्य समंतभद्र'के नामसे नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये हैं, और ये श्लोक शान्त्याचार्यविरचित '**प्रमाणकलिका**' तथा वादि देवसूरिविरचित '**स्याद्वादरत्नाकर**' में भी समंतभद्रके नामसे उद्धृत पाये जाते हैं*—

**बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।**
**यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥**
**न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।**
**शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवत् ॥**

* देखो जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ (पृ० १६१) तथा 'जैनसाहित्य-संशोधक' अंक प्रथममें मुनि जिनविजयजीका लेख।

और 'समयसार'की जयसेनाचार्यकृत ' तात्पर्यवृत्ति ', में भी, समन्तभद्रके नामसे कुछ श्लोकोंको उद्धृत करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है—

धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कथंचन।
अनेकान्तोप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥

ये तीनों श्लोक समंतभद्रके उपलब्ध ग्रंथों ( नं० १ से ५ तक ) में नहीं पाये जाते और इस लिये यह स्पष्ट है कि ये समन्तभद्रके किसी दूसरे ही ग्रंथ अथवा ग्रंथोंके पद्य हैं जो अभी तक अज्ञात अथवा अप्राप्त हैं। आश्चर्य नहीं जो ये भी इस ' तत्त्वानुशासन ' ग्रंथके ही पद्य हों। यदि ऐसा हो और यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो उसे जैनियोंका महाभाग्य समझना चाहिये। ऐसी हालतमें इस ग्रंथकी भी शीघ्र तलाश होनेकी बड़ी जरूरत है।

## ८ प्राकृत व्याकरण।

' जैनग्रंथावली ' से माळूम होता है कि समन्तभद्रका बनाया हुआ एक 'प्राकृतव्याकरण' भी है जिसकी श्लोकसंख्या १२०० है। उक्त ग्रंथावलीमें इस ग्रंथका उल्लेख 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की रिपोर्टके आधार पर किया गया है और उक्त सोसाइटीमें ही उसका अस्तित्व बतलाया गया है। परंतु हमारे देखनेमें अभीतक यह ग्रंथ नहीं आया और न उक्त सोसाइटीकी वह रिपोर्ट ही देखनेको मिल सकी है; * इस लिये इस विषयमें हम अधिक

* रिपोर्ट आदिको देखकर आवश्यक सूचनाएँ देनेके लिये कई बार बाबू छोटेलालजी जैन, मेम्बर रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, को लिखा गया और प्रार्थनाएँ की गईं परन्तु उन्होंने उनपर कोई ध्यान नहीं दिया, अथवा ऐसे कामोंके लिए परिश्रम करना उचित नहीं समझा।

कुछ भी कहना नहीं चाहते। हाँ, इतना जरूर कह सकते हैं कि स्वामी समंतभद्रका बनाया हुआ यदि कोई व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो वह जैनियोंके लिये एक बड़े ही गौरवकी चीज होगी। श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेंद्र व्याकरण'में '**चतुष्टयं समंतभद्रस्य**' इस सूत्रके द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख भी किया है, इससे समंतभद्रके किसी व्याकरणका उपलब्ध होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है।

## ९ प्रमाणपदार्थ ।

मूडबिद्रीके 'पडुवस्तिभंडार'[1] की सूचीसे माळूम होता है कि वहाँपर 'प्रमाणपदार्थ' नामका एक संस्कृत ग्रंथ समंतभद्राचार्यका बनाया हुआ मौजूद है और उसकी श्लोकसंख्या १००० है। साथ ही, उसके विषयमें यह भी लिखा है कि वह अधूरा है। माळूम नहीं, ग्रंथकी यह श्लोकसंख्या उसकी किसी टीकाको साथ लेकर है या मूलका ही इतना परिमाण है। यदि अपूर्ण मूलका ही इतना परिमाण है तब तो यह कहना चाहिये कि समंतभद्रके उपलब्ध मूल-ग्रंथोंमें यह सबसे बड़ा ग्रंथ है, और न्यायविषयक होनेसे बड़ा ही महत्त्व रखता है। यह भी माळूम नहीं कि यह ग्रंथ किस प्रकारका अधूरा है—इसके कुछ पत्र नष्ट हो गये हैं या ग्रंथकार इसे पूरा ही नहीं कर सके हैं। बिना देखे इन सब बातोंके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता *। हाँ, इतना जरूर हम कहना चाहते हैं कि यदि

१ यह सूची आराके 'जैनसिद्धान्त भवन'में मौजूद है।

* इस ग्रंथके विषयमें आवश्यक बातोंको माळूम करनेके लिये मूडविद्रीके पं० लोकनाथजी शास्त्रीको दो पत्र दिये गये। एक पत्रके उत्तरमें उन्होंने ग्रंथको निकलवाकर देखने और उसके सम्बन्धमें यथेष्ट सूचनाएँ देनेका वादा भी किया था, परंतु नहीं माळूम क्या वजह हुई जिससे वे हमें फिर कोई सूचना नहीं दे सके। यदि शास्त्रीजीसे हमारे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता तो हम पाठकोंको इस ग्रंथका अच्छा परिचय देनेके लिये समर्थ हो सकते थे।

यह ग्रंथ, वास्तवमें, इन्हीं समंतभद्राचार्यका बनाया हुआ है तो इसका बहुत शीघ्र उद्धार करने और उसे प्रकाशमें लानेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

## १० कर्मप्राभृत-टीका।

प्राकृत भाषामें, श्रीपुष्पदन्त-भूतबल्याचार्यविरचित 'कर्मप्राभृत' अथवा 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' नामका एक सिद्धान्त ग्रंथ है। यह ग्रंथ १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबन्ध, ३ बन्धस्वामित्व, ४ भाववेदना, ५ वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खंडोंमें विभक्त है, और इस लिये इसे '**षट्खण्डागम**' भी कहते हैं। समन्तभद्रने इस ग्रंथके प्रथम पांच खंडोंकी यह टीका बड़ी ही सुन्दर तथा मृदु संस्कृत भाषामें लिखी है और इसकी संख्या अड़तालीस हजार श्लोकपरिमाण है; ऐसा श्रीइन्द्रनंद्याचार्यकृत 'श्रुतावतार' ग्रंथके निम्नवाक्योंसे पाया जाता है। साथ ही, यह भी माळूम होता है कि समन्तभद्र 'कषायप्राभृत' नामके द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथकी भी व्याख्या लिखना चाहते थे; परंतु द्रव्यादि-शुद्धिकरण-प्रयत्नोंके अभावसे, उनके एक सधर्मी साधुने (गुरुभाईने) उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया था—

कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोभूत् १६७
श्रीमान्समंतभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधं।
सिद्धान्तमतः षट्खंडागमगतखंडपंचकस्य पुनः॥ १६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रंथरचनया युक्तां।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम्॥ १६९॥
विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धः॥ १७०॥

इस परिचयमें उस स्थानविशेष अथवा ग्रामका नाम भी दिया हुआ है जहाँ तार्किकसूर्य स्वामी समंतभद्रने उदय होकर अपनी टीका-किरणोंसे कर्मप्राभृत सिद्धान्तके अर्थको विकसित किया है। परंतु पाठकी कुछ अशुद्धिके कारण वह नाम स्पष्ट नहीं हो सका। 'आस-न्ध्यां पलरि' की जगह '**आसीद्यः पलरि**' पाठ देकर पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने उसका अर्थ 'आनंद नांवाच्या गांवांत'—आनंद नामके गाँवमें—दिया है। परंतु इस दूसरे पाठका यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह बात कुछ समझमें नहीं आती। पूछने पर पंडितजी लिखते हैं "श्रुतपंचमीक्रिया इस पुस्तकके मराठी अनु-वादमें समंतभद्राचार्यका जन्म आनंदमें होना लिखा है," बस इतने परसे ही आपने 'पलरि' का अर्थ 'आनंद गाँवमें' कर दिया है, जो ठीक मालूम नहीं होता, और न आपका '**आसीद्यः**' पाठ ही हमें ठीक जँचता है; क्योंकि '**अभूत्**' क्रियापदके होनेसे '**आसीत्**' क्रियापद व्यर्थ पड़ता है। हमारी रायमें, यदि कर्णाटक प्रान्तमें 'पल्ली' शब्दके अर्थमें 'पलर' या इसीसे मिलता जुलता कोई दूसरा शब्द व्यवहृत होता हो और सप्तमी विभक्तिमें उसका 'पलरि' रूप बनता हो तो यह कहा जा सकता है कि 'आसन्ध्यां' की जगह '**आनंद्यां**' पाठ होगा, और तब ऐसा आशय निकल सकेगा कि समंतभद्रने 'आनंदी पल्ली' में अथवा 'आनंदमठ' में ठहरकर इस टीकाकी रचना की है।

## ११ गन्धहस्ति महाभाष्य।

कहा जाता है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति' नामका एक महाभाष्य भी लिखा है जिसकी श्लोक-

१ 'गंधहस्ति' एक बड़ा ही महत्त्वसूचक विशेषण है—गंधेभ, गंधगज और गंधद्विप भी इसीके पर्याय नाम हैं। जिस हाथीकी गंधको पाकर दूसरे हाथी

संख्या ८४ हजार है, और उक्त 'देवागम' स्तोत्र ही जिसका मंगलाचरण है। इस ग्रंथकी वर्षोंसे तलाश हो रही है। बम्बईके सुप्रसिद्ध-दानवीर सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे० पी० ने इसके दर्शन मात्र करा देनेवालेके लिये पाँचसौ रुपये नकदका पारितोषिक भी निकाला था, और हमने भी, 'देवागम' पर मोहित होकर, उस समय यह संकल्प किया था कि यदि यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो हम इसके अध्ययन, मनन और प्रचारमें अपना शेष जीवन व्यतीत करेंगे—परन्तु आज तक किसी भी भण्डारसे इस ग्रंथका कोई पता नहीं चला। एक बार अखबारोंमें ऐसी खबर उड़ी थी कि यह ग्रंथ आस्ट्रिया देशके एक प्रसिद्ध नगर ( वियना ) की लायब्रेरीमें मौजूद है। और इस पर दो एक विद्वानोंको वहाँ भेजकर ग्रंथकी कापी मँगानेके लिये कुछ चंदे वगैरहकी योजना भी हुई थी, परंतु बादमें मालूम हुआ कि वह खबर गलत थी—उसके मूलमें ही भूल हुई है—और इस लिये दर्शनोत्कंठित जनताके हृदयमें उस समाचारसे जो कुछ मंगलमय आशा बँधी थी वह फिरसे निराशामें परिणत हो गई।

हम जैनसाहित्य परसे भी इस ग्रंथके अस्तित्वकी बराबर खोज करते

---

नहीं ठहरते—भाग जाते अथवा निर्मद और निस्तेज हो जाते हैं—उसे 'गंधहस्ती' कहते हैं। इसी गुणके कारण कुछ खास खास विद्वान् भी इस पदसे विभूषित रहे हैं। समन्तभद्रके सामने प्रतिवादी नहीं ठहरते थे, यह बात पहले विस्तारके साथ 'गुणादिपरिचय' में बतलाई जा चुकी है; इससे 'गंधहस्ती' अवश्य ही समन्तभद्रका विरुद अथवा विशेषण रहा होगा और इसीसे उनके महाभाष्यको गंधहस्ति महाभाष्य कहते होंगे। अथवा गंधहस्ति-तुल्य होनेसे ही यह गंधहस्ति महाभाष्य कहलाता होगा और इससे यह समझना चाहिये कि यह सर्वोत्तम भाष्य है-दूसरे भाष्य उसके सामने फीके, श्रीहीन और निस्तेज जान पड़ते हैं।

आ रहे हैं। अबतकके मिले हुए उल्लेखों द्वारा प्राचीन जैनसाहित्य परसे इस ग्रंथका जो कुछ पता चलता है उसका सार इस प्रकार है—

( १ ) कवि हस्तिमल्लके 'विक्रान्त कौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

**तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगंधहस्तिप्रवर्तकः।**
**स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः॥**

यही पद्य **'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय'** ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी दिया हुआ है, जिसे पं० अय्यपार्यने शक सं० १२४१ में बना कर समाप्त किया था; और उसकी किसी किसी प्रतिमें '**प्रवर्तकः**' की जगह '**विधायकः**' और '**निदेशकः**' की जगह '**कवीश्वरः**' पाठ भी पाया जाता है; परंतु उससे कोई अर्थभेद नहीं होता अथवा यों कहिये कि पद्यके प्रतिपाद्य विषयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि "स्वामी समन्तभद्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के **'गंधहस्ति'** नामक व्याख्यान (भाष्य) के प्रवर्तक—अथवा विधायक—हुए हैं और साथ ही वे '**देवागम**' के निदेशक—अथवा कवीश्वर—भी थे।"

इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्रने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति' नामका कोई भाष्य अथवा महाभाष्य लिखा है परंतु यह मालूम नहीं होता कि 'देवागम' (आप्तमीमांसा) उस भाष्यका मंगलाचरण है। 'देवागम' यदि मंगलाचरण रूपसे उस भाष्यका ही एक अंश होता तो उसका पृथक् रूपसे नामोल्लेख करनेकी यहाँ कोई जरूरत नहीं थी; इस पद्यमें उसके पृथक् नामनिर्देशसे यह स्पष्ट ध्वनि

१ कवि हस्तिमल्ल विक्रमकी १४ वीं शताब्दीमें हुए हैं।

निकलती है कि वह समन्तभद्रका एक स्वतंत्र और प्रधान ग्रंथ है। देवागम ( आप्तमीमांसा ) की अन्तिम कारिका भी इसी भावको पुष्ट करती हुई नजर आती है और वह निम्न प्रकार है—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥[1]

वसुनन्दि आचार्यने, अपनी टीकामें इस कारिकाको **'शास्त्रार्थोपसंहार-कारिका'**[2] लिखा है, और इसकी टीकाके अन्तमें समंतभद्रको **'कृतकृत्यः निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञः'**[3] इत्यादि विशेषणोंके साथ उल्लेख किया है। विद्यानंदाचार्यने, अष्टसहस्रीमें, इस कारिकाके द्वारा **प्रारब्धनिर्वहण**—प्रारंभ किये हुए कार्यकी परिसमाप्ति—आदिको सूचित करते हुए, 'देवागम' को '**स्वोक्तपरिच्छेद शास्त्र**'[4] बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि इस शास्त्रमें जो दश परिच्छेदोंका विभाग पाया जाता है वह स्वयं स्वामी समन्तभद्रका किया हुआ है। अकलंकदेवने भी, ऐसा ही प्रतिपादन किया है[5]। और इस सब कथनसे

---

१ जो लोग अपना हित चाहते हैं उन्हें लक्ष्य करके, यह 'आप्तमीमांसा' सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्तिके लिये कही गई है।

२ शास्त्रके विषयका उपसंहार करनेवाली अथवा उसकी समाप्तिकी सूचक कारिका।

३ ये दोनों विशेषण समन्तभद्रके द्वारा प्रारंभ किये हुए ग्रंथकी परिसमाप्तिको सूचित करते हैं।

४ "इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे ( स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं तत्र ) विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेष-परीक्षा......" —अष्टसहस्री।

५ "इति स्वोक्तपरिच्छेदविहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा।" —अष्टशती।

'देवागम'का एक स्वतंत्र शास्त्र होना पाया जाता है, जिसकी समाप्ति उक्त कारिकाके साथ हो जाती है; और यह प्रतीत नहीं होता कि वह किसी टीका अथवा भाष्यका आदिम मंगलाचरण है; क्योंकि किसी ग्रंथपर टीका अथवा भाष्य लिखते हुए नमस्कारादि रूपसे मंगलाचरण करनेकी जो पद्धति पाई जाती है वह इससे विभिन्न मालूम होती है और उसमें इस प्रकारसे परिच्छेदभेद नहीं देखा जाता। इसके सिवाय उक्त कारिकासे भी यह सूचित नहीं होता कि यहाँ तक मंगलाचरण किया गया है और न ग्रंथके तीनों टीकाकारों—अकलंक, विद्यानंद तथा वसुनन्दी नामके आचार्यों—मेंसे ही किसीने अपनी टीकामें इसे 'गंधहस्ति महाभाष्यका मंगलाचरण' सूचित किया है, बल्कि गंधहस्ति महाभाष्यका कहीं नाम तक भी नहीं दिया। और भी कितने ही उल्लेखोंसे देवागम ( आप्तमीमांसा ) एक स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें उल्लेखित मिलता है *। और इस लिये कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्य परसे

* यथा—

१—गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः ।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः ॥
—विक्रान्तकौरव प्र० ।

२—स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
—वादिराजसूरि ( पा० च० )

३—जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः ॥
अलं चकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतं ।
स्वामिविद्यादिनंदाय नमस्तस्मै महात्मने ॥
—नगरताल्लुकेका शि० लेख नं० ४६ (E. C, VIII.)

देवागमकी स्वतंत्रतादि–विषयक जो नतीजा निकाला गया है उसका बहुत कुछ समर्थन होता है ।

कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्यसे यह भी मालूम नहीं होता कि जिस तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्रने गंधहस्ति नामका भाष्य लिखा है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा 'तत्त्वार्थशास्त्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थसूत्र । हो सकता है कि वह उमास्वातिका ही तत्त्वार्थसूत्र हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि वह उससे भिन्न कोई दूसरा ही तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थशास्त्र हो, जिसकी रचना किसी दूसरे विद्वानाचार्यके द्वारा हुई हो; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रोंके रचयिता अकेले उमास्वाति ही नहीं हुए हैं–दूसरे आचार्य भी हुए हैं–और न सूत्रका अर्थ केवल गद्यमय संक्षिप्त सूचनावाक्य या वाक्यसमूह ही है बल्कि वह 'शास्त्र' का पर्याय नाम भी है और पद्यात्मक शास्त्र भी उससे अभिप्रेत होते हैं । यथा—

कायस्थपद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः ।—यशोधरचरित्र ।
तथोद्दिष्टं मयात्रापि ज्ञात्वा श्रीजिनसूत्रतः ।—भद्रबाहुचरित्र ।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।—पंचास्तिकाय ।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वितः ।—वि० कौरव प्र० ।
एतच्च........मूलाराधनाटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं द्रष्टव्यं ।—अनगारधर्मामृतटीका ।

अतएव तत्त्वार्थसूत्रका अर्थ 'तत्त्वार्थविषयक शास्त्र' होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र 'तत्त्वार्थशास्त्र' और 'तत्त्वार्थाधिगम-मोक्षशास्त्र' कहलाता है । 'सिद्धान्तशास्त्र' और 'राद्धान्तसूत्र' भी

१ यह गाथाबद्ध 'भगवती आराधना' शास्त्रके एक अधिकारका नाम है ।

तत्त्वार्थशास्त्र अथवा तत्त्वार्थसूत्रके नामान्तर हैं । इसीसे आर्यदेवको एक जगह 'तत्त्वार्थसूत्र' का और दूसरी जगह 'राद्धान्त' का कर्त्ता लिखा है * और पुष्पदन्त, भूतबल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त-शास्त्रोंको भी तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थमहाशास्त्र कहा जाता है । इन सिद्धान्त शास्त्रोंपर तुम्बुलूराचार्यने कनड़ी भाषामें 'चूडामणि' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दि-'श्रुताव-तार'में ८४ हजार और 'कर्णाटकशब्दानुशासन' में ९६ हजार श्लोकोंका बतलाया है । भट्टाकलंकदेवने, अपने 'कर्णाटक शब्दानु-शासन' में कनड़ी भाषाकी उपयोगिताको जतलाते हुए, इस टीका का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"न चैष (कर्णाटक) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी । तत्त्वार्थ-महाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमितग्रंथसंदर्भरूपस्य चू-डामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्त्यागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-नाटक-कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रंथानामपि भाषाकृतानामुपलभ्यमानत्वात् ।"

---

* यथा—(१) "......अवरिं तत्त्वार्थसूत्रकर्तुगल् एनिसिद् आर्यदेवर..."

—नगरताल्लुकेका शि० लेख नं० ३५० ।

(२) "आचार्यवर्यो यतिरार्य्यदेवो राद्धान्तकर्त्ता ध्रियतां स मूर्ध्नि ।"

श्र० बे० शिलालेख नं० ५४ (६७) ।

१ ये 'अष्टशती' आदि ग्रंथोंके कर्तासे भिन्न दूसरे भट्टाकलंक हैं, जो विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें हुए हैं । इन्होंने कर्णाटकशब्दानुशासनको ई० सन् १६०४ (शक १५२६) में बनाकर समाप्त किया है ।

२ देखो, राइस साहबकी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक, सन् १८८९ की छपी हुई ।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि 'चूडामणि' जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ 'तत्त्वार्थमहाशास्त्र' के नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे 'सिद्धान्तशास्त्र' और 'तत्त्वार्थशास्त्र' दोनोंकी, एकार्थताका समर्थन होता है और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत तथा कषायप्राभृत ग्रंथ 'तत्त्वार्थशास्त्र' कहलाते थे। तत्त्वार्थविषयक होनेसे उन्हें 'तत्त्वार्थशास्त्र' या 'तत्त्वार्थसूत्र' कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।

इन्हीं तत्त्वार्थशास्त्रोंमेंसे 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर समन्तभद्रने भी एक विस्तृत संस्कृतटीका लिखी है जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है और जिसकी संख्या 'इन्द्रनंदि-श्रुतावतार' के अनुसार ४८ हजार और 'विबुधश्रीधर-विरचित श्रुतावतार' के मतसे ६८ हजार श्लोक परिमाण है। ऐसी हालतमें, आश्चर्य नहीं कि कवि हस्तिमल्लादिकने अपने उक्त पद्यमें समन्तभद्रको तत्त्वार्थसूत्रके जिस 'गंधहस्ति' नामक व्याख्यानका कर्ता सूचित किया है वह यही टीका अथवा भाष्य हो। जब तक किसी प्रबल और समर्थ प्रमाणके द्वारा, बिना किसी संदेहके, यह माल्म न हो जाय कि समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर ही 'गंधहस्ति' नामक महाभाष्यकी रचना की थी तब तक उनके उक्त सिद्धान्तभाष्यको भी गंधहस्तिमहाभाष्य माना जा सकता है और उसमें यह पद्य कोई बाधक प्रतीत नहीं होता।

(२) आराके जैनसिद्धान्त भवनमें ताड़पत्रों पर लिखा हुआ, कनड़ी भाषाका एक अपूर्ण ग्रंथ है, जिसका तथा जिसके कर्ताका नाम माल्म नहीं हो सका, और जिसका विषय उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम-

सूत्रके तीसरे अध्यायसे सम्बंध रखता है। इस ग्रंथके प्रारंभमें नीचे लिखा वाक्य मंगलाचरणके तौर पर मोटे अक्षरोंमें दिया हुआ है—

**" तत्त्वार्थव्याख्यानषण्णवतिसहस्रगन्धहस्तिमहाभाष्यविधायत( क )देवागमकवीश्वरस्याद्वादविद्याधिपतिसमन्तभद्रान्वयपेनुगोण्डेयलक्ष्मीसेनाचार्यर दिव्यश्रीपादपद्मंगलिगे नमोस्तु ।"**

इस वाक्यमें 'पेनुगोण्डे' के रहनेवाले लक्ष्मीसेनाचार्यके[1] चरण कमलोंको नमस्कार किया गया है और साथ ही यह बतलाया गया है कि वे उन समन्तभद्राचार्यके वंशमें हुए हैं जिन्होंने तत्त्वार्थके व्याख्यान स्वरूप ९६ हजार ग्रंथपरिमाणको लिये हुए गंधहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है और जो 'देवागम'के कवीश्वर तथा स्याद्वादविद्याके अधीश्वर ( अधिपति ) थे।

यहाँ समन्तभद्रके जो तीन विशेषण दिये गये हैं उनमेंसे पहले दो विशेषण प्रायः वे ही हैं जो 'विक्रान्तकौरव' नाटक और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' के उक्त पद्यमें—खासकर उसकी पाठान्तरित शकलमें—पाये जाते हैं। विशेषता सिर्फ इतनी है कि इसमें 'तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान' की जगह 'तत्त्वार्थव्याख्यान' और 'गंधहस्ति' की जगह 'गंधहस्तिमहाभाष्य' ऐसा स्पष्टोल्लेख किया है। साथ ही, गंधहस्तिमहाभाष्यका परिमाण भी ९६ हजार दिया है, जो उसके प्रचलित परिमाण ( ८४ हजार ) से १२ हजार अधिक है।

---

१ लक्ष्मीसेनाचार्यके एक शिष्य मल्लिषेणदेवकी निषद्याका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके १६८ वें शिलालेखमें पाया जाता है और वह शि० लेख ई० स० १४०० के करीबका बतलाया गया है। संभव है कि इन्हीं लक्ष्मीसेनके शिष्यकी निषद्याका वह लेख हो और इससे लक्ष्मीसेन १४ वीं शताब्दीके लगभगके विद्वान् हों। लक्ष्मीसेन नामके दो विद्वानोंका और भी पता चला है परंतु वे १६ वीं और १८ वीं शताब्दीके आचार्य हैं।

इस उल्लेखसे भी 'देवागम' के एक स्वतंत्र तथा प्रधान ग्रंथ होनेका पता चलता है, और यह मालूम नहीं होता कि गन्धहस्तिमहाभाष्य जिस 'तत्त्वार्थ' ग्रंथका व्याख्यान है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थशास्त्र; और इसलिये, इस विषयमें जो कुछ कल्पना और विवेचना ऊपर की गई है उसे यथा-संभव यहाँ भी समझ लेना चाहिये। रही ग्रंथसंख्याकी बात, वह बेशक उसके प्रचलित परिमाणसे भिन्न है और कर्मप्राभृतटीकाके उस परिमाणसे भी भिन्न है जिसका उल्लेख इन्द्रनन्दी तथा विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' नामक ग्रंथोंमें पाया जाता है। ऐसी हालतमें यह खोजनेकी जरूरत है कि कौनसी संख्या ठीक है। उपलब्ध जैनसाहित्यमें, किसी भी आचार्यके ग्रंथ अथवा प्राचीन शिलालेख परसे प्रचलित संख्याका कोई समर्थन नहीं होता—अर्थात्, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे गंधहस्ति महाभाष्यकी श्लोकसंख्या ८४ हजार पाई जाती हो;—बल्कि ऐसा भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता जिससे यह मालूम होता हो कि समन्तभद्रने ८४ हजार श्लोक-संख्यावाला कोई ग्रंथ निर्माण किया है, जिसका संबंध गंधहस्ति महाभाष्यके साथ मिला लिया जाता; और इसलिये महाभाष्यकी प्रचलित संख्याका मूल मालूम न होनेसे उस पर संदेह किया जा सकता है। श्रुतावतारमें 'चूडामणि' नामके कनडी भाष्यकी संख्या ८४ हजार दी है; परंतु कर्णाटक शब्दानुशासनमें भट्टाकलंकदेव उसकी संख्या ९६ हजार लिखते हैं और यह संख्या स्वयं ग्रंथको देखकर लिखी हुई मालूम होती है; क्योंकि उन्होंने ग्रंथको 'उपलभ्यमान' बतलाया है। इससे श्रुतावतारमें समन्तभद्रके सिद्धान्तागम-भाष्यकी जो संख्या ४८ हजार दी है उस पर भी संदेहको अवसर मिल सकता है, खासकर

ऐसी हालतमें जब कि विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार'में उसकी संख्या ६८ हजार दी है। संभव है कि वह संख्या ८४ हजार हो—अंकोंके[1] आगे पीछे लिखे जानेसे कहीं पर ४८ हजार लिखी गई हो और उसीके आधारपर ४८ हजारका गलत उल्लेख कर दिया गया हो—या ९६ हजार हो अथवा ६८ हजार वगैरह कुछ और ही हो; और यह भी संभव है कि उक्त वाक्यमें जो संख्या दी गई है वही ठीक न हो—वह किसी गलतीसे ८४ हजार या ४८ हजार आदिकी जगह लिखी गई हो। परन्तु इन सब बातोंके लिये विशेष अनुसंधान तथा खोजकी जरूरत है और तभी कोई निश्चित बात कही जा सकती है। हाँ, उक्त वाक्यमें दी हुई महाभाष्यकी संख्या और किसी एक श्रुतावतारमें दी हुई समन्तभद्रके सिद्धान्तागम भाष्यकी संख्या दोनों यदि सत्य साबित हों तो यह जरूर कहा जा सकता है कि समन्तभद्रका गंधहस्तिमहाभाष्य उनके सिद्धान्तागम-भाष्य ( कर्मप्राभृत-टीका ) से भिन्न है, और वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य हो सकता है।

( ३ ) उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर '**राजवार्तिक**' और '**श्लोकवार्तिक**' नामके दो भाष्य उपलब्ध हैं जो क्रमशः अकलंकदेव तथा

---

१ अंकोंका आगे पीछे लिखा जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है, वह कभी कभी जल्दीमें हो जाया करता है। उदाहरणके लिये डा० सतीशचंद्रकी 'हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक'को लीजिये, उसमें उमास्वातिकी आयुका उल्लेख करते हुए ८४ की जगह ४८ वर्ष, इसी अंकोंके आगे पीछेके कारण, लिखे गये हैं। अन्यथा, डाक्टर साहबने उमास्वातिका समय ईसवी सन् १ से ८५ तक दिया है। वे यदि इसे न देते तो वहाँ आयुके विषयमें और भी ज्यादा भ्रम होना संभव था।

विद्यानंदाचार्यके बनाये हुए हैं। ये वार्तिकके ढंगसे लिखे गये हैं और 'वार्तिक' ही कहलाते हैं। वार्तिकोंमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त—कहे हुए, विना कहे हुए और अन्यथा कहे हुए—तीनों प्रकारके अर्थोंकी चिन्ता, विचारणा अथवा अभिव्यक्ति हुआ करती है। जैसा कि श्रीहेमचंद्राचार्य-प्रतिपादित 'वार्तिक'के निम्न लक्षणसे प्रकट है,—

'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम्।'[1]

इससे वार्तिक भाष्योंका परिमाण पहले भाष्योंसे प्रायः कुछ बढ़ जाता है। जैसे सर्वार्थसिद्धिसे राजवार्तिकका और राजवर्तिकसे श्लोकवार्तिकका परिमाण बढ़ा हुआ है। ऐसी हालतमें उक्त तत्त्वार्थसूत्र पर समंतभद्रका ८४ या ९६ हजार श्लोक संख्यावाला भाष्य यदि पहलेसे मौजूद था तो अकलंकदेव और विद्यानंदके वार्तिक भाष्यका अलग अलग परिमाण उससे जरूर कुछ बढ़ जाना चाहिये था, परंतु बढ़ना तो दूर रहा वह उलटा उससे कई गुणा कम है।[2] इससे यह नतीजा निकलता है कि या तो समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर वैसा कोई भाष्य नहीं लिखा—उन्होंने सिद्धान्तग्रंथ पर जो भाष्य लिखा है वही 'गंधहस्ति महाभाष्य' कहलाता होगा—और या लिखा है तो वह अकलंकदेव तथा विद्यानंदसे पहले ही नष्ट हो चुका था, उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ।

---

१ A rule which explains what is said or but imperfectly said and supplies omissions.

—V. S. Apte's dictionary.

२ वार्तिकभाष्योंसे भिन्न दूसरे प्रकारके भाष्यों अथवा टीकाओंका परिमाण भी बढ़ जाता है, ऐसा अभिप्राय नहीं है। वह चाहे जितना कम भी हो सकता है।

( ४ ) शाकटायन व्याकरणके 'उपज्ञाते' सूत्रकी टीकामें टीकाकार श्रीअभयचन्द्रसूरि लिखते हैं—

"तृतीयान्तादुपज्ञाते प्रथमतो ज्ञाते यथायोगं अणादयो भवन्ति ॥ अर्हता प्रथमतो ज्ञातं आर्हतं प्रवचनं । सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि ॥"

---

१ यह तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १८२ वाँ सूत्र है और अभयचंद्रसूरिके मुद्रित 'प्रक्रियासंग्रह'में इसका क्रमिक नं० ७४६ दिया है। देखो, कोल्हापुरके 'जैनेन्द्रमुद्रणालय'में छपा हुआ सन् १९०७ का संस्करण।

२ ये अभयचंद्रसूरि वे ही अभयचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णीके गुरु तथा 'गोम्मटसार'की 'मन्दप्रबोधिका' टीकाके कर्ता थे; और 'लघीयस्त्रय'के टीकाकार भी ये ही जान पड़ते हैं। 'लघीयस्त्रय'की टीकामें टीकाकारने अपनेको मुनिचंद्रका शिष्य प्रकट किया है और मंगलाचरणमें मुनिचंद्रको भी नमस्कार किया है; 'मंदप्रबोधिका' टीकामें भी 'मुनि'को नमस्कार किया गया है और शाकटायन व्याकरणकी इस 'प्रक्रियासंग्रह' टीकामें भी 'मुनीन्द्र'को नमस्कार पाया जाता है और वह 'मुनीन्दु' (=मुनिचंद्र) का पाठान्तर भी हो सकता है। साथ ही, इन तीनों टीकाओंके मंगलाचरणोंकी शैली भी एक पाई जाती है—प्रत्येकमें अपने गुरुके सिवाय, मूलग्रंथकर्ता तथा जिनेश्वर (जिनाधीश) को भी नमस्कार किया गया है और टीका करनेकी प्रतिज्ञाके साथ टीकाका नाम भी दिया है। इससे ये तीनों टीकाकार एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं और मुनिचंद्रके शिष्य जान पड़ते हैं। केशववर्णीने गोम्मटसारकी कनड़ी टीका शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाकर समाप्त की है, और मुनिचंद्र विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके अस्तित्व समयका एक उल्लेख सौंदत्तिके शिलालेखमें शक सं० ११५१ (वि० सं० १२८६) का और दूसरा श्रवणबेलगोलके १३७ (३४७) नंबरके शिलालेखमें शक सं० १२०० (वि० सं० १३३५) का पाया जाता है। इस लिये ये अभयचंद्रसूरि विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। बहुत संभव है कि वे अभयसूरि सैद्धान्तिक भी ये ही अभयचंद्र हों जो 'श्रुतमुनि'के शास्त्रगुरु थे

यहाँ तृतीयान्तसे उपज्ञात अर्थमें अणादि प्रत्ययोंके होनेसे जो रूप होते हैं उनके दो उदाहरण दिये गये हैं—एक 'आर्हत-प्रवचन' और दूसरा 'सामन्तभद्र—महाभाष्य'। साथ ही, 'उपज्ञात'का अर्थ 'प्रथमतो ज्ञात'—विना उपदेशके प्रथम जाना हुआ—किया है। अमरकोशमें भी 'आद्य ज्ञान'को 'उपज्ञा' लिखा है। इस अर्थकी दृष्टिसे अर्हन्तके द्वारा प्रथम जाने हुए प्रवचनको जिस प्रकार 'आर्हत प्रवचन' कहते हैं उसी प्रकार ( समन्तभद्रेण प्रथमतो विनोपदेशेन—ज्ञातं सामन्तभद्रं ) समन्तभद्रके द्वारा विना उपदेशके प्रथम जाने हुए महाभाष्यको 'सामन्तभद्र महाभाष्य' कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये; और इससे यह ध्वनि निकलती है कि समन्तभद्रका महाभाष्य उनका स्वोपज्ञ भाष्य है—उन्हींके किसी ग्रंथ पर रचा हुआ भाष्य है। अन्यथा, इसका उल्लेख '**टः प्रोक्ते**' सूत्रकी टीकामें किया जाता, जहाँ 'प्रोक्त' तथा 'व्याख्यात' अर्थमें इन्हीं प्रत्ययोंसे वनेहुए रूपोंके उदाहरण दिये हैं और उनमें 'सामन्तभद्रं' भी एक उदाहरण है परन्तु उसक साथमें 'महाभाष्यं' पद

और जिन्हें श्रुतमुनिके 'भावसंग्रह'की प्रशस्तिमें शब्दागम, परमागम और तर्कागमके पूर्ण जानकार ( विद्वान् )' लिखा है। उनका समय भी यही पाया जाता है; क्योंकि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु और गुरुभाई बालचंद्र मुनिने शक सं० ११९५ ( वि० सं० १३३० ) में 'द्रव्यसंग्रह'सूत्र पर एक टीका लिखी है ( देखो 'कर्णाटककविचरिते' )। परन्तु श्रुतमुनिके दीक्षागुरु अभयचंद्र सैद्धान्तिक इन अभयचंद्रसूरिसे भिन्न जान पड़ते हैं; क्योंकि श्रवणवेल्गोलके शि० लेख नं० ४१ और १०५ में उन्हें माघनंदीका शिष्य लिखा है। लेकिन समय उनका भी विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दी है। अभयचंद्र नामके दूसरे कुछ विद्वानोंका अस्तित्व विक्रमकी १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंमें पाया जाता है। परंतु वे इस 'प्रक्रियासंग्रह'के कर्ता मालूम नहीं होते।

१ यह उसी तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १६९ वाँ सूत्र है; और प्रक्रियासंग्रहमें इसका क्रमिक नं० ७४३ दिया है।

नहीं है। क्योंकि दूसरेके ग्रंथ पर रचे हुए भाष्यका अथवा यों कहिये कि उस ग्रंथके अर्थका प्रथम ज्ञान भाष्यकारको नहीं होता बल्कि मूल ग्रंथकारको होता है। परन्तु यहाँ पर हमें इस चर्चामें अधिक जानेकी जरूरत नहीं है। हम इस उल्लेख परसे सिर्फ इतना ही बतलाना चाहते हैं कि इसमें समन्तभद्रके महाभाष्यका उल्लेख है और उसे 'गन्धहस्ति' नाम न देकर 'सामन्तभद्र महाभाष्य'के नामसे ही उल्लेखित किया गया है। परन्तु इस उल्लेखसे यह माळूम नहीं होता कि वह भाष्य कौनसे ग्रंथ-पर लिखा गया है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रकी तरह वह कर्मप्राभृत सिद्धान्तपर या अपने ही किसी ग्रंथपर लिखा हुआ भाष्य भी हो सकता है। ऐसी हालतमें, महाभाष्यके निर्माणका कुछ पता चलनेके सिवाय, इस उल्लेखसे और किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

( ५ ) स्याद्वादमंजरी[1] नामके श्वेताम्बर ग्रंथमें एक स्थानपर 'गंध-हस्ति' आदि ग्रंथोंके हवालेसे अवयव और प्रदेशके भेदका निम्न प्रकार-से उल्लेख किया है—

**"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या।"**

इस उल्लेखसे सिर्फ 'गंधहस्ति' नामके एक ग्रंथका पता चलता है परन्तु यह माळूम नहीं होता कि वह मूल ग्रंथ है या टीका, दिगम्बर है या श्वेताम्बर और उसके कर्त्ताका क्या नाम है। हो सकता है कि, इसमें 'गंधहस्ति' से समन्तभद्रके गंधहस्तिमहाभाष्यका ही अभिप्राय हो, जैसा कि पं० जवाहरलाल शास्त्रीने ग्रंथकी भाषाटीकामें सूचित किया

१ यह हेमचन्द्राचार्य-विरचित 'अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका'की टीका है जिसे मल्लिषेणसूरिने शक सं० १२१४ ( वि० सं० ) १३४९ में बनाकर समाप्त किया है।

हैं; परन्तु वह श्वेताम्बरोंका कोई ग्रंथ भी हो सकता है जिसकी इस प्रकारके उल्लेख–अवसरपर अधिक संभावना पाई जाती है। क्योंकि दोनों ही सम्प्रदायोंमें एक नामके अनेक ग्रंथ होते रहे हैं,—और नामोंकी यह परस्पर समानता हिन्दुओं तथा बौद्धोंतकमें पाई जाती हैं। अतः इस नाममात्रके उल्लेखसे किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

( ६ ) ' न्यायदीपिका ' में आचार्य धर्मभूषणने अनेक स्थानों पर ' आप्तमीमांसा ' के कई पद्योंको उद्धृत किया है, परंतु एक जगह सर्वज्ञकी सिद्धि करते हुए, वे उसके ' सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः ' नामक पद्यको निम्न वाक्यके साथ उद्धृत करते हैं—

" तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—"

इस वाक्यसे इतना पता चलता है कि महाभाष्यकी आदिमें ' आप्तमीमांसा ' नामका भी एक प्रस्ताव है—प्रकरण है—और ऐसा होना कोई अस्वाभाविक नहीं है; एक ग्रंथकार, अपनी किसी कृतिको उपयोगी समझकर अनेक ग्रंथोंमें भी उद्धृत कर सकता है। परंतु इससे यह मालूम नहीं होता कि वह महाभाष्य उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रका ही भाष्य है। वह कर्मप्राभृत नामके सिद्धान्तशास्त्रका भी भाष्य हो सकता है और उसमें भी ' आप्तमीमांसा ' नामके एक प्रकरणका होना कोई असंभव नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय ' आप्तमीमांसाप्रस्तावे ' पदमें आए हुए 'आप्तमीमांसा ' शब्दोंका वाच्य यदि समन्तभद्रका संपूर्ण ' आप्तमीमांसा ' नामका देशपरिच्छे-

१ यह ग्रंथ शक सं० १३०७ ( वि० सं० १४४२ )में बनकर समाप्त हुआ है और इसके रचयिता धर्मभूषण 'अभिनव धर्मभूषण' कहलाते हैं।

दात्मक ग्रंथ माना जाय तो उक्त पदसे यह भी माॡम नहीं होता कि वह आप्तमीमांसा ग्रन्थ उस भाष्यका मंगलाचरण है, बल्कि वह उसका एक प्रकरण जान पड़ता है । प्रस्तावनाप्रकरण होना और बात है और मंगलाचरण होना दूसरी बात । एक प्रकरण मंगलात्मक होते हुए भी टीकाकारोंके मंगलाचरणकी भाषामें मंगलाचरण नहीं कहलाता । टीकाकारोंका मंगलाचरण, अपने इष्टदेवादिककी स्तुतिको लिये हुए, या तो नमस्कारात्मक होता है या आशीर्वादात्मक, और कभी कभी उसमें टीका करनेकी प्रतिज्ञा भी शामिल रहती है; अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको ही लिये हुए होता है; परन्तु वह एक ग्रंथके रूपमें अनेक परिच्छेदोंमें बँटा हुआ नहीं देखा जाता । आप्तमीमांसामें ऐसा एक भी पद्य नहीं है जो नमस्कारात्मक या आशीर्वादात्मक हो अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हो; उसके अन्तिम पद्यसे भी यह माॡम नहीं होता कि वह किसी ग्रंथका मंगलाचरण है, और यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि उसमें दशपरिच्छेदोंका जो विभाग है वह स्वयंसमन्तभद्राचार्यका किया हुआ है । ऐसी हालतमें यह प्रतीत नहीं होता कि, आप्तमीमांसा गंधहस्तिमहाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है—अर्थात्, वह भाष्य **'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥'** इस पद्यसे ही आरंभ होता है और इससे पहले उसमें कोई दूसरा मंगल पद्य अथवा वाक्य नहीं है । हो सकता है कि समन्तभद्रने महाभाष्यकी आदिमें आप्तके गुणोंका कोई खास स्तवन किया हो और फिर उन गुणोंकी परीक्षा करने अथवा उनके विषयमें अपनी श्रद्धा और गुणज्ञताको संसूचित करने आदिके लिये 'आप्तमीमांसा' नामके प्रकरणकी रचना की हो अथवा पहलेसे रचे

हुए अपने इस ग्रंथको वहाँ उद्धृत किया हो। और यह भी हो सकता है कि मूलग्रंथके मंगलाचरणको ही उन्होंने महाभाष्यका मंगलाचरण स्वीकार किया हो; जैसे कि पूज्यपादकी बाबत कुछ विद्वानोंका कहना है कि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको ही अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीकाका मंगलाचरण बनाया है और उससे भिन्न टीकामें किसी नये मंगलाचरणका विधान नहीं किया*। दोनों ही हालतोंमें 'आप्तमीमांसा' प्रकरणसे पहले दूसरे मंगलाचरणका—आप्तस्तवनका—होना ठहरता है, और इसीकी अधिक संभावना पाई जाती है।

( ७ ) आप्तमीमांसा ( देवागम ) की 'अष्टसहस्री' टीका पर लघु समन्तभद्रने 'विषमपदतात्पर्यटीका' नामकी एक टिप्पणी लिखी है, जिसकी प्रस्तावनाका प्रथम वाक्य इस प्रकार है:—

---

* परंतु कितने ही विद्वान् इस मतसे विरोध भी रखते हैं जिसका हाल आगे चलकर मालूम होगा।

१ डा० सतीशचन्द्रने, अपनी 'हिस्टरी आफ इंडियन लॅाजिक'में, लघुसमंतभद्रको ई० सन् १००० ( वि० सं० १०५७ )के करीबका विद्वान् लिखा है। परंतु विना किसी हेतुके उनका यह लिखना ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि अष्टसहस्रीके अंतमें 'केचित्' शब्दपर टिप्पणी देते हुए, लघुसमन्तभद्र उसमें वसुनन्दि आचार्य और उनकी देवागमवृत्तिका उल्लेख करते हैं। यथा—"वसुनन्दिआचार्याः केचिच्छब्देन ग्राह्याः, यतस्तैरेव स्वस्य चूरयन्ते लिखितोयं श्लोकः" इत्यादि। और वसुनन्दि आचार्य विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं, इसलिये लघुसमंतभद्र विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहले नहीं हुए, यह स्पष्ट है। रत्नकरंडक श्रावकाचारकी प्रस्तावनाके पृष्ठ ६ पर 'चिक्क ( लघु ) समन्तभद्र'के विषयमें जो कुछ उल्लेख किया गया है उसे ध्यानमें रखते हुए ये विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं और यदि 'माघनन्दी' नामान्तरको लिये हुए तथा अमरकीर्तिके शिष्य न हों तो ज्यादेसे ज्यादा विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् हो सकते हैं।

"इह हि खलु पुरा स्वकीय-निरवद्य-विद्या-संयम-संपदा गणधर-प्रत्येकबुद्ध-श्रुतकेवलि-दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नंतः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र किल मंगलपुरस्सर-स्तव-विषय-परमाप्त-गुणातिशय-परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयांचक्रिरे।"

इस वाक्य द्वारा, आचार्योंके विशेषणोंको छोड़कर, यह खास तौर पर सूचित किया गया है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थाधिगम-मोक्षशास्त्र' पर 'गंधहस्ति' नामका एक महाभाष्य लिखा है, और उसकी रचना करते हुए उन्होंने उसमें परम आप्तके गुणातिशयकी परीक्षाके अवसरपर 'देवागम' नामके प्रवचनतीर्थकी सृष्टि की है।

यद्यपि इस उल्लेखसे गंधहस्तिमहाभाष्यकी श्लोकसंख्याका कोई हाल मालूम नहीं होता और न यही पाया जाता है कि देवागम (आप्तमीमांसा) उसका मंगलाचरण है, परंतु यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम होती है कि समन्तभद्रका गंधहस्ति महाभाष्य उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर लिखा गया है और 'देवागम' भी उसका एक प्रकरण है। जहाँ तक हम समझते हैं यही इस विषयका पहला स्पष्टोल्लेख है जो अभीतक उपलब्ध हुआ है। परंतु यह उल्लेख किस

१ यह प्रस्तावनावाक्य मुनिजिनविजयजीने पूनाके 'भण्डारकर इन्स्टिटयूट'की उस ग्रंथ प्रतिपरसे उद्धृत करके भेजा था जिसका नंबर ९२० है।

२ "मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावतार-रचित-स्तुतिरुच्यते। मंगलं पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्।" —अष्टसहस्री।

आधारपर अवलम्बित है ऐसा कुछ माल्टम नहीं होता। विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीसे पहलेके जैनसाहित्यमें तो गंधहस्तिमहाभाष्यका कोई नाम भी अभीतक हमारे देखनेमें नहीं आया और न जिस 'अष्टसहस्री' टीका पर यह टिप्पणी लिखी गई है उसमें ही इस विषयका कोई स्पष्ट विधान पाया जाता है। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे सिर्फ इतना माल्टम होता है कि किसी निःश्रेयस शास्त्रके आदिमें किये हुए आप्तके स्तवनको लेकर उसके आशयका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये—यह आप्तमीमांसा लिखी गई है *। वह निःश्रेयसशास्त्र कौनसा और उसका वह स्तवन क्या है, इस बातकी पर्यालोचना करने पर अष्टसहस्रीके अन्तिम भागसे इतना पता चलता है कि जिस शास्त्रके आरंभमें आप्तका स्तवन '**मोक्षमार्गप्रणेता, कर्मभूभृद्भेत्ता और विश्वतत्त्वानां ज्ञाता**' रूपसे किया गया है उसी शास्त्रसे 'निःश्रेयस शास्त्र' का अभिप्राय है ‡। इन विशेषणोंको लिये हुए आप्तके स्तवनका प्रसिद्ध श्लोक निम्न प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

आप्तके इस स्तोत्रको लेकर, अष्टसहस्रीके कर्ता श्रीविद्यानंदाचार्यने इसपर 'आप्तपरीक्षा' नामका एक ग्रंथ लिखा है और स्वयं उसकी

* "तदेवेदं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां विदधानाः श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः कस्माद् देवागमादिविभूतिमतोऽहं महात्माभिष्टुत इति स्फुटं पृष्टा इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—"

‡ "शास्त्रारंभेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।"

टीका भी की है। इस ग्रंथमें परीक्षाद्वारा अर्हन्तदेवको ही इन विशेषणोंसे विशिष्ट और वंदनीय ठहराते हुए, १२० वें नंबरके पद्यमें, 'इति संक्षेपतोन्वयः' यह वाक्य दिया है और इसकी टीकामें लिखा है—

"इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुंगवैर्विधीयमानस्यान्वयः संप्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः प्रपंचतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामीसमंतभद्रदेवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्....।"

इस सब कथनसे इतना तो प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्रका देवागम नामक आप्तमीमांसा ग्रंथ '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' नामके पद्यमें कहे हुए आप्तके स्वरूपको लेकर लिखा गया है; परंतु यह पद्य कौनसे निःश्रेयस ( मोक्ष ) शास्त्रका पद्य है और उसका कर्ता कौन है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई। विद्यानंदाचार्य, आप्तपरीक्षाको समाप्त करते हुए, इस विषयमें लिखते हैं—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै १२३

इस पद्यसे सिर्फ इतना पता चलता है कि उक्त तीर्थोपमान स्तोत्र, जिसकी स्वामी समंतभद्रने मीमांसा और विद्यानंदने परीक्षा की, तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रके प्रोत्थानका—उसे ऊँचा उठाने या बढ़ानेका—आरंभ करते समय शास्त्रकारद्वारा रचा गया है। परन्तु वे शास्त्रकार महोदय कौन हैं, यह कुछ स्पष्ट मालूम नहीं होता। विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी टीकामें शास्त्रकारको सूत्रकार सूचित किया है और उन्हीं 'मुनिपुंगव'का बनाया हुआ उक्त गुणस्तोत्र लिखा है परन्तु उनका

नाम नहीं दिया। हो सकता है कि आपका अभिप्राय 'सूत्रकार'से '**उमास्वाति**' महाराजका ही हो; क्योंकि कई स्थानोंपर आपने उमास्वातिके वचनोंको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया हैं परंतु केवल सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दोंपरसे ही—जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं—उमास्वातिका नाम नहीं निकलता; क्योंकि दूसरे भी कितने ही आचार्य सूत्रकार अथवा शास्त्रकार हो गए हैं; समन्तभद्र भी शास्त्रकार थे, और उनके देवागमादि ग्रंथ सूत्रग्रंथ कहलाते हैं। इसके सिवाय, यह बात अभी विवादग्रस्त चल रही है कि उक्त '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' नामका स्तुतिपद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है। कितने ही विद्वान् इसे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते हैं; और बालचंद्र, योगदेव तथा श्रुतसागर नामके पिछले टीकाकारोंने भी अपनी अपनी टीकामें ऐसा ही प्रतिपादन किया है। परन्तु दूसरे कितने ही विद्वान् ऐसा नहीं मानते, वे इसे तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन टीका 'सर्वार्थसिद्धि' का मंगलाचरण स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि यदि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्य इसकी जरूर व्याख्या करते, लेकिन उन्होंने इसकी कोई व्याख्या न करके इसे अपनी टीकाके मंगलाचरणके तौर पर दिया है और इस लिये यह पूज्यपादकृत ही मालूम होता है। सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें, पं० कलाप्पा भरमाप्पा निटवे भी, श्रुतसागरके कथनका विरोध करते हुए अपना ऐसा ही मत प्रकट करते हैं, और साथ ही, एक हेतु यह भी देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना द्वैपायकके

१ "देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः"—विक्रान्तकौरव।

१ श्रुतसागरी टीकाकी एक प्रतिमें 'द्वैयाक' नाम दिया है, और बालचंद्र मुनिकी टीकामें 'सिद्दय्य' ऐसा नाम पाया जाता है। देखो, जनवरी सन् १९२१ का जैनहितैषी, पृ० ८०, ८१।

प्रश्नपर हुई है और प्रश्नका उत्तर देते हुए बीचमें मंगलाचरणका करना अप्रस्तुत जान पड़ता है; दूसरे वस्तुनिर्देशको भी मंगल माना गया है जिसका उत्तरद्वारा स्वतः विधान हो जाता है और इस लिये ऐसी परिस्थितिमें पृथक् रूपसे मंगलाचरणका किया जाना कुछ संगत माळूम नहीं होता । भूमिकाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

“ सर्वार्थसिद्धिग्रंथारंभे ‘ मोक्षमार्गस्यनेतारमिति ” श्लोको वर्तते स तु सूत्रकृता भगवदुमास्वातिनैव विरचित इति श्रुतसागराचार्यस्याभिमतमिति तत्प्रणीतश्रुतसागर्याख्यवृत्तितः स्पष्टमवगम्यते । तथापि श्रीमत्पूज्यपादाचार्येणान्याख्यातत्वादिदं श्लोकनिर्माणं न सूत्रकृतः किंतु सर्वार्थसिद्धिकृत एवेति निर्विवादम् । तथा एतेषां सूत्राणां द्वैपायक प्रश्नोपर्युत्तरत्वेन विरचनं तैरेवाङ्गीक्रियते तथा च उत्तरे वक्तव्ये मध्ये मंगलस्याप्रस्तुतत्वाद्वस्तुनिर्देशस्यापि मंगलत्वेनाङ्गीकृतत्वाच्चोपरितनः सिद्धान्त एव दार्ढ्यमाप्नोतीत्यूह्यं सुधीभिः ॥”

पं० वंशीधरजी, अष्टसहस्रीके स्वसंपादित संस्करणमें, ग्रंथकर्ताओंका परिचय देते हुए, लिखते हैं कि समन्तभद्रने गंधहस्तिमहाभाष्यकी रचना करते हुए उसकी आदिमें इस पद्यके द्वारा आप्तका स्तवन किया है और फिर उसकी परीक्षाके लिये ‘आप्तमीमांसा’ ग्रंथकी रचना की है । यथा—

“ भगवता समन्तभद्रेण गन्धहस्तिमहाभाष्यनामानं तत्त्वार्थोपरि टीकाग्रन्थं चतुरशीतिसहस्रानुष्टुभ्मात्रं विरचयत । तदादौ ‘ मोक्षमार्गस्य नेतारम् ’ इत्यादिनैकेन पद्येनाप्तः स्तुतः । तत्परीक्षणार्थं च ततोग्रे पंचदशाधिकशतपद्यैराप्तमीमांसाग्रन्थोभ्यधायि । ”

कुछ विद्वानोंका कहना है कि 'राजवार्तिक' टीकामें अकलंकदेवने इस पद्यको नहीं दिया—इसमें दिये हुए आप्तके विशेषणोंको चर्चा तक भी नहीं की—और न विद्यानंदने ही अपनी 'श्लोकवार्तिक' टीकामें इसे उद्धृत किया है, ये ही सर्वार्थसिद्धिके बादकी दो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें यह पद्य नहीं पाया जाता, और इससे यह मालूम होता है कि इन प्राचीन टीकाकारोंने इस पद्यको मूलग्रंथ (तत्त्वार्थसूत्र) का अंग नहीं माना। अन्यथा, ऐसे महत्त्वशाली पद्यको छोड़कर खण्डरूपमें ग्रंथके उपस्थित करनेकी कोई वजह नहीं थी जिस पर 'आप्तमीमांसा' जैसे महान् ग्रंथोंकी रचना हुई हो।

सनातनजैनग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें भी, जो कि एक प्राचीन गुटके परसे प्रकाशित हुआ है, कोई मंगलाचरण नहीं है, और भी बम्बई—बनारस आदिमें प्रकाशित हुए मूल तत्त्वार्थसूत्रके कितने ही संस्करणोंमें वह नहीं पाया जाता, अधिकांश हस्तलिखित प्रतियोंमें भी वह नहीं देखा जाता और कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें वह पद्य 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं,' 'उज्जोवणमुज्जवणं' इन दोनों अथवा इनमेंसे किसी एक पद्यके साथ उपलब्ध होता है और इससे यह मालूम नहीं होता कि वह मूल ग्रंथकारका पद्य है बल्कि दूसरे पद्योंकी तरह ग्रंथके शुरूमें मंगलाचरणके तौरपर संग्रह किया हुआ जान पड़ता है। साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मूल तत्त्वार्थसूत्र प्रचलित है उसमें भी यह अथवा दूसरा कोई मंगलाचरण नहीं पाया जाता।

ऐसी हालतमें लघुसमन्तभद्रके उक्त कथनका अष्टसहस्री ग्रंथ भी कोई स्पष्ट आधार प्रतीत नहीं होता। और यदि यह मान भी लिया जाय कि विद्यानंदने सूत्रकार या शास्त्रकारसे 'उमास्वाति'का आर

तत्त्वार्थशास्त्रसे उनके 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र'का उल्लेख किया है और इस लिये उक्त पद्यको तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मंगलाचरण माना है तो इससे अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त कथनोंका सिर्फ इतना ही नतीजा निकलता है कि समन्तभद्रने उमास्वातिके उक्त पद्यको लेकर उसपर उसी तरहसे 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी रचना की है जिस तरहसे कि विद्यानंदने उसपर 'आप्तपरीक्षा' लिखी है—अथवा यों कहिये कि जिस प्रकार 'आप्तपरीक्षा'की सृष्टि श्लोकवार्तिक भाष्यको लिखते हुए नहीं की गई और न वह श्लोकवार्तिकका कोई अंग है उसी प्रकारकी स्थिति गंधहस्ति महाभाष्यके सम्बंधमें 'आप्त-मीमांसा' की भी हो सकती है, उसमें अष्टसहस्री या आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंसे कोई बाधा नहीं आती; * और न उनसे यह लाजिमी आता है कि समूचे तत्त्वार्थसूत्रपर महाभाष्यकी रचना करते हुए 'आप्त-मीमांसा' की सृष्टि की गई है और इस लिये वह उसीका एक अंग है। हाँ, यदि किसी तरह पर यह माना जा सके कि 'आप्तपरीक्षा' के उक्त १२३ वें पद्यमें 'शास्त्रकार'से समन्तभद्रका अभिप्राय है और इस लिये मंगलाचरणका वह स्तुति पद्य ( स्तोत्र ) उन्हींका रचा हुआ है तो 'तत्त्वार्थशास्त्र'का अर्थ उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र करते हुए भी उक्त पद्यके '**प्रोत्थान**' शब्द परसे महाभाष्यका आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रका प्रोत्थान—उसे ऊँचा उठाना या बढ़ाना—महाभाष्य जैसे ग्रंथोंके द्वारा ही होता है। और 'प्रोत्थान' का आशय

---

* 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र'के निम्न वाक्यसे भी कोई बाधा नहीं आती, जिसमें सांकेतिक रूपसे समन्तभद्रकी भारती ( आप्तमीमांसा ) को 'गृध्रपिच्छाचार्यके कहे हुए प्रकृष्ट मंगलके आशयको लिये हुए' बतलाया है—

"गृध्रपिच्छ-भाषित-प्रकृष्ट-मंगलार्थिकाम् ।"

यदि ग्रंथकी उस 'उत्थानिका' से लिया जाय जो कभी कभी ग्रंथकी रचनाका सम्बन्धादिक वतलानेके लिये शुरूमें लिखी जाती है, तो उससे भी उक्त आशयमें कोई वाधा नहीं आती; वल्कि 'भाष्यकार'को 'शास्त्रकार' कहा गया है यह और स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि मूल तत्त्वार्थ-सूत्रमें वैसी कोई उत्थानिका नहीं है, वह या तो मंगलाचरणके वाद 'सर्वार्थसिद्धि' में पाई जाती है और या महाभाष्यमें होगी। सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता भी कथंचित् उस 'शास्त्रकार' शब्दके वाच्य हो सकते हैं। रही भाष्यकारको शास्त्रकार कहनेकी वात, सो इसमें कोई विरोध माऌम नहीं होता—तत्त्वार्थशास्त्रका अर्थ होनेसे जब उसके वार्तिक भाष्य या व्याख्यानको भी 'शास्त्र' कहा जाता * है तव उन वार्तिक-भाष्यादिके रचयिता स्वयं 'शास्त्रकार' सिद्ध होते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

और यदि उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रद्वारा तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका प्रोत्थान होनेसे 'प्रोत्थान' शब्दका वाच्य वहाँ उक्त तत्त्वार्थसूत्र ही माना जाय तो फिर उससे पहले **'तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधि'** का वह वाच्य नहीं रहेगा, उसका वाच्य कोई ग्रंथ विशेष न होकर सामान्य रूपसे तत्त्वार्थमहोदधि, द्वादशांगश्रुत या कोई अंग-पूर्व ठहरेगा, और तव अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कथनोंका वही नतीजा निकलेगा जो ऊपर निकाला गया है—गंधहस्ति महाभाष्यकी रचनाका लाजिमी नतीजा उनसे नहीं निकल सकेगा।

---

* जैसा कि 'श्लोकवार्तिक'में विद्यानंदाचार्यके निम्न वाक्योंसे भी प्रकट है—
"प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात्।
.........तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम्॥"

इसके सिवाय, आप्तमीमांसाके साहित्य अथवा संदर्भपरसे जिस प्रकार उक्त पद्यके अनुसरणकी या उसे अपना विचाराश्रय बनानेकी कोई खास ध्वनि नहीं निकलती उसी प्रकार 'वसुनन्दि-वृत्ति' की प्रस्तावना या उत्थानिकासे भी यह मालूम नहीं होता कि आप्तमीमांसा उक्त मंगल पद्य ( मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि ) को लेकर लिखी गई है, वह इस विषयमें अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे कुछ भिन्न पाई जाती है और उससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्र स्वयं सर्वज्ञ भगवानकी स्तुति करनेके लिये बैठे हैं—किसीकी स्तुतिका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये नहीं—उन्होंने अपने मानसप्रत्यक्षद्वारा सर्वज्ञको साक्षात् करके उनसे यह निवेदन किया है कि 'हे भगवन्, माहात्म्यके आधिक्य-कथनको स्तवन कहते हैं और आपका माहात्म्य अतीन्द्रिय होनेसे मेरे प्रत्यक्षका विषय नहीं है, इस लिये मैं किस तरहसे आपकी स्तुति करूँ ?' उत्तरमें भगवान्‌की ओरसे यह कहे जानेपर कि 'हे वत्स, जिस प्रकार दूसरे विद्वान् देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिक हेतुसे मेरे माहात्म्यको समझकर स्तुति करते हैं उस प्रकार तुम क्यों नहीं करते ?' समन्तभद्रने फिर कहा कि 'भगवन्, इस हेतुप्रयोगसे आप मेरे प्रति महान् नहीं ठहरते—मैं देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिकके कारण आपको पूज्य नहीं मानता—क्यों कि यह हेतु व्यभिचारी है,' और यह कह कर उन्होंने

१ अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनाके जो शब्द पीछे फुटनोटमें उद्धृत किये गये हैं उनसे यह पाया जाता है कि निःश्रेयसशास्त्रकी आदिमें दिये हुए मंगल पद्यमें आप्तका स्तवन निरतिशय गुणोंके द्वारा किया गया है; इसपर मानो आप्त भगवानने समन्तभद्रसे यह पूछा है कि मैं देवागमादिविभूतिके कारण महान् हूँ, इस लिये इस प्रकारके गुणातिशयको दिखलाते हुए निःश्रेयस शास्त्रके कर्त्ता मुनिने मेरी स्तुति क्यों नहीं की ? उत्तरमें समन्तभद्रने आप्तमीमांसाका प्रथम पद्य कहा है ।

आप्तमीमांसाके प्रथम पद्य द्वारा उसके व्यभिचारको दिखलाया है; आगे भी इसी प्रकारके अनेक हेतुप्रयोगों तथा विकल्पोंको उठाकर आपने अपने ग्रंथकी क्रमशः रचना की है और उसके द्वारा सभी आप्तोंकी परीक्षा कर डाली है। वसुनन्दि-वृत्तिकी प्रस्तावनाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

"......स्वभक्तिसंभारप्रेक्षापूर्वकारित्वलक्षणप्रयोजनवद्गुणस्तवं कर्तुकामः श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः सर्वज्ञं प्रत्यक्षीकृत्यैवमाचष्टे-हे भट्टारक संस्तवो नाम माहात्म्यस्याधिक्यकथनं। त्वदीयं च माहात्म्यमतीन्द्रियं मम प्रत्यक्षागोचरं। अतः कथं मया स्तूयसे॥ अत आह भगवान् ननु भो वत्स यथान्ये देवागमादिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तवं कुर्वन्ति तथा त्वं किमिति न कुरुषे॥ अत आह—अस्माद्धेतोर्न महान् भवान् मां प्रति। व्यभिचारित्वादस्य हेतोः। इति व्यभिचारं दर्शयति—"

इस तरह पर, लघुसमन्तभद्रके उक्त स्पष्ट कथनका प्राचीन साहित्यपरसे कोई समर्थन होता हुआ मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि उन्होंने अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंपरसे ही परम्परा कथनके सहारेसे यह नतीजा निकाला हो, और यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रंथके स्पष्टोल्लेखके आधारपर, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ, वे गंधहस्ति महाभाष्यके विषयमें वैसा उल्लेख करने अथवा नतीजा निकालनेके लिये समर्थ हुए हों। दोनों ही हालतोंमें प्राचीन साहित्य परसे उक्त कथनके समर्थन और यथेष्ट निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत बाकी रहती है, इसके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिए।

ये ही सब उल्लेख हैं जो अभीतक इस ग्रंथके विषयमें हमें उपलब्ध हुए हैं। और प्रत्येक उल्लेख परसे जो बात जितने अंशोंमें पाई जाती है उसपर यथाशक्ति ऊपर विचार किया जा चुका है। हमारी रायमें, इन सब उल्लेखोंपरसे इतना जरूर मालूम होता है कि 'गंधहस्ति-महाभाष्य' नामका कोई ग्रंथ जरूर लिखा गया है, उसे 'सामन्तभद्र-महाभाष्य' भी कहते थे और खालिस 'गंधहस्ति' नामसे भी उसका उल्लेखित होना संभव है। परन्तु वह किस ग्रंथपर लिखा गया—कर्मप्राभृतके भाष्यसे भिन्न है या अभिन्न—यह अभी सुनिश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता। हाँ, उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र'पर उसके लिखे जानेकी अधिक संभावना जरूर है परन्तु ऐसी हालतमें, वह अष्टशती और राजवार्तिकके कर्त्ता अकलंकदेवसे पहले ही नष्ट हो गया जान पड़ता है। पिछले लेखकोंके ग्रंथोंमें महाभाष्यके जो कुछ स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख मिलते हैं वे स्वयं महाभाष्यको देखकर किये हुए उल्लेख मालूम नहीं होते—बल्कि परंपरा कथनोंके आधारपर या उन दूसरे प्राचीन ग्रंथोंके उल्लेखोंपरसे किये हुए जान पड़ते हैं जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। उनमें एक भी ऐसा उल्लेख नहीं है जिसमें, 'देवागम' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थके पद्योंको छोड़कर, महाभाष्यके नामके साथ उसके किसी वाक्यको उद्धृत किया हो। इसके सिवाय, 'देवागम' उक्त महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है यह बात इन उल्लेखोंसे नहीं पाई जाती। हाँ, वह उसका एक प्रकरण जरूर हो सकता है; परन्तु उसकी रचना 'गंधहस्ति'की रचनाके अवसरपर हुई

१ समन्तभद्रका 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर लिखा हुआ भाष्य भी उपलब्ध नहीं है। यदि वह सामने होता तो गंधहस्ति महाभाष्यके विशेष निर्णयमें उससे बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी।

या वह पहले ही रचा जा चुका था और बादको महाभाष्यमें शामिल किया गया इसका अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका। फिर भी इतना तो स्पष्ट है और इस कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि 'देवागम (आप्तमीमांसा)' एक बिलकुल ही स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें इतना अधिक प्रसिद्ध रहा है कि महाभाष्यको समंतभद्रकी कृति प्रकट करते हुए भी उसके साथमें कभी कभी देवागमका भी नाम एक पृथक् कृतिके रूपमें देना जरूरी समझा गया है और इस तरह पर 'देवागम' की प्रधानता और स्वतंत्रताको उद्घोषित करनेके साथ साथ यह सूचित किया गया है कि देवागमके परिचयके लिये गंधहस्ति महाभाष्यका नामोल्लेख पर्याप्त नहीं है—उसके नाम परसे ही देवागमका बोध नहीं होता। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि यदि 'देवागम' गंधहस्ति महाभाष्यका एक प्रकरण है तो 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथ भी उसके अनन्तरका एक प्रकरण होना चाहिये; क्योंकि युक्त्यनुशासन-टीकाके प्रथम प्रस्तावनावाक्यद्वारा श्रीविद्यानंद आचार्य ऐसा सूचित करते हैं कि आप्तमीमांसा-द्वारा आप्तकी परीक्षा हो जानेके अनन्तर यह ग्रंथ रचा गया है, और ग्रंथके प्रथम पद्यमें आये हुए 'अद्य' शब्द

१ टीकाका प्रथम प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हमान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः इति ते पृष्टा इव प्राहुः—।"

२ युक्त्यनुशासनका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

"कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं॥"

३ अद्य अस्मिन्काले परीक्षावसानसमये (—इति विद्यानंदः)

अर्थात्—इस समय—परीक्षाकी समाप्तिके अवसरपर—हम आपको—वीरवर्द्धमानको—अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं—आपकी स्तुति करना चाहते हैं।

परसे भी यह ध्वनि निकलती है कि उससे पहले किसी दूसरे ग्रन्थ अथवा प्रकरणकी रचना हुई है। ऐसी हालतमें, उस ग्रन्थराजको 'गंधहस्ति' कहना कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं होता जिसके 'देवागम' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे महामहिमासम्पन्न मौलिक ग्रन्थरत्न भी प्रकरण हों। नहीं माळूम तब, उस महाभाष्यमें ऐसे कितने ग्रंथरत्नोंका समावेश होगा। उसका लुप्त हो जाना निःसन्देह जैन-समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है।

रही महाभाष्यके मंगलाचरणकी बात, इस विषयमें, यद्यपि, अभी कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती, फिर भी **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** नामक पद्यके मंगलाचरण होनेकी संभावना जरूर पाई जाती है और साथ ही इस बातकी भी अधिक संभावना है कि वह समन्तभद्रप्रणीत है। परंतु यह भी हो सकता है—यद्यपि उसकी संभावना कम है—कि उक्त पद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण हो और समन्तभद्रने उसे ही महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण स्वीकार किया हो। ऐसी हालतमें उन सब आक्षेपोंके योग्य समाधानकी जरूरत रहती है जो इस पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानने पर किये जाते हैं और जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया चुका है। हमारी रायमें, इन सब बातोंको लेकर आर सबका अच्छा निर्णय प्राप्त करनेके लिये, महाभाष्यके सम्बंधमें प्राचीन जैनसाहित्यको टटोलनेकी अभी और जरूरत जान पड़ती है, और वह जरूरत और भी बढ़ जाती है जब हम यह देखते हैं कि ऊपर जितने भी उल्लेख मिले हैं वे सब विक्रमकी प्रायः १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं शताब्दियोंके[1] उल्लेख हैं, उनसे पहले

1 देखो उन उल्लेखोंके वे फुटनोट जिनमें उनके कर्ताओंका समय दिया हुआ है।

हजार वर्षके भीतरका एक भी उल्लेख नहीं है और यह समय इतना तुच्छ नहीं हो सकता जिसकी कुछ पर्वाह न की जाय; बल्कि महाभाष्यके अस्तित्व, प्रचार और उल्लेखकी इस समयमें ही अधिक संभावना पाई जाती है और यही उनके लिये ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता है। अतः पहले उल्लेखोंके साथ पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक बिठलानेके लिये इस बातकी खास जरूरत है कि १२ वीं शताब्दीसे ३ री शताब्दी तकके प्राचीन जैनसाहित्यको खूब टटोला जाय— उस समयका कोई भी ग्रंथ अथवा शिलालेख देखनेसे बाकी न रक्खा जाय;—ऐसा होनेपर इन पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक बैठ सकेगी और तब वे और भी ज्यादा वजनदार हो जायँगे। साथ ही, इस ढूँढ़-खोजसे समन्तभद्रके दूसरे भी कुछ ऐसे ग्रंथों तथा जीवन-वृत्तान्तोंका पता चलनेकी आशा की जाती है जो इस इतिहासमें निबद्ध नहीं हो सके और जिनके मालूम होनेपर समन्तभद्रके इतिहासका और भी ज्यादा उद्धार होना संभव है। आशा है पुरातत्त्वके प्रेमी और समन्तभद्रके इतिहासका उद्धार करनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् जरूर इस ढूँढ़खोजके लिये अच्छा यत्न करेंगे और इस तरहपर शीघ्र ही कुछ विवादग्रस्त प्रश्नोंको हल करनेमें समर्थ हो सकेंगे। जो विद्वान् अपने इस विषयके परिश्रम तथा अनुभवसे हमें कोई नई बात सुझाएँगे अथवा इतिहासमें निबद्ध किसी बातपर युक्तिपूर्वक कोई खास प्रकाश डालनेका कष्ट उठाएँगे वे हमारे विशेष धन्यवादके पात्र होंगे और उनकी उस बातको अगले संस्करणमें योग्य स्थान दिये जानेका प्रयत्न किया जायगा।

इति भद्रम्।

सरसावा, जि॰ सहारनपुर
वैशाख शुक्ला २, सं॰ १९८२

जुगलकिशोर, मुख्तार।

# परिशिष्ट ।

—:o:—

इतिहासके ' समय-निर्णय ' नामक प्रकरणमें चर्चित कई विषयोंके सम्बंधमें हमें बादको कुछ नई बातें मालूम हुई हैं, जिन्हें पाठकोंकी अनुभववृद्धि और उनके तद्विषयक विचारोंमें सहायता पहुँचानेके लिये यहाँपर दे देना उचित और आवश्यक जान पड़ता है। इसी लिये, इस परिशिष्टकी योजना-द्वारा, नीचे उसका प्रयत्न किया जाता है:—

( १ ) विबुध श्रीधरके ' श्रुतावतार ' * से मालूम होता है कि कुन्दकुन्दाचार्यने ' षट्खण्डागम ' के प्रथम तीन खण्डों पर कोई टीका नहीं लिखी; उनके नामसे इन्द्रनन्दीने, अपने ' श्रुतावतार'में, १२ हजार श्लोकपरिमाणवाली जिस टीका अथवा ' परिकर्म ' नामक भाष्यका उल्लेख किया है ( इतिहास पृ० १६०, १६१, १६३ फु० नो० १८१ ) वह उनके शिष्य 'कुन्दकीर्ति' की रचना है। यथा—

**"इति सूरिपरंपरया द्विविधसिद्धान्तो व्रजन् मुनीन्द्रकुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्दकीर्तिनामा षट्खंडानां मध्ये प्रथमत्रिखंडानां द्वादशसहस्रप्रमितं परिकर्म नाम शास्त्रं करिष्यति ।"**

परन्तु इस उल्लेखसे इतना जरूर पाया जाता है कि 'षट्खंडागम' की रचना कुन्दकुन्दसे पहले हो गई थी। वे आचार्यपरम्परासे दोनों

---

* यह 'श्रुतावतार' विबुध श्रीधरके 'पंचाधिकार' नामक शास्त्रका एक प्रकरण ( चौथा परिच्छेद ) है और माणिकचंद्र-ग्रंथमालाके २१ वें ग्रन्थ 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धान्तोंके—कर्मप्राभृत नामक षट्खंडागम और कषायप्राभृतके—ज्ञाता हुए थे और इसलिये उन सिद्धान्तोंकी रचनामें कारणीभूत ऐसे धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा गुणधरादि[1] आचार्योंको उनसे पहलेके विद्वान् समझना चाहिये।

(२) विबुध श्रीधरने तुम्बुलूराचार्यको षट्खण्डागमादि सिद्धान्त-ग्रंथोंका टीकाकार नहीं माना। उन्होंने, अपने श्रुतावतारमें 'कुन्दकीर्ति' के बाद 'श्यामकुण्ड'को, श्यामकुण्डके बाद 'समन्तभद्र'को और समन्त-भद्रके बाद 'बप्पदेव'को टीकाकार प्रतिपादन किया है। यथा—

**षष्ठखंडेन विना तेषां खंडानां सकलभाषाभिः पद्धतिनामग्रंथं द्वादशसहस्रप्रमितं श्यामकुण्डनामा भट्टारकः करिष्यति तथा च षष्ठखण्डस्य सप्तसहस्रप्रमितां पंजिकां च। द्विविध सिद्धान्तस्य व्रजतः समुद्धरणे समन्तभद्रनामा मुनीन्द्रो भविष्यति सोपि पुनः षट्खण्डपंचखण्डानां संस्कृतभाषयाष्टषष्ठिसहस्रप्रमितां टीकां करिष्यति द्वितीयसिद्धान्तटीकां शास्त्रे लिखापयन् सुधर्म्मनामा मुनिर्वारयिष्यति द्रव्यादिशुद्धेरभावात्। इति द्विविधं सिद्धान्तं व्रजंतं शुभनन्दिभट्टारकपार्श्वे श्रुत्वा ज्ञात्वा च बप्पदेवनामा मुनीन्द्रः प्राकृतभाषया अष्टसहस्रप्रमितां टीकां करिष्यति"।**

इतिहासके पृष्ठ १९२ पर दूसरे विद्वानोंके कथनानुसार तुम्बुलूरा-चार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्यक्ति मानकर जो यह प्रतिपादन किया

---

१ 'आदि' शब्दसे 'नागहस्ति' आदि जिन चार आचार्योंका यहाँ अभिप्राय है उनमेंसे 'आर्यमंक्षु'का नाम इस 'श्रुतावतार'में नहीं दिया, तीसरे 'यतिवृषभ' का नाम 'यतिनायक' और चौथे उच्चारणाचार्यका नाम 'समुद्धरण' मुनि बतलाया है।

गया था कि इन्द्रनन्दिका तत्र अपने 'श्रुतावतार'में 'समन्तभद्रको तुम्बुलूराचार्यके बादका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं है' उसको इस उल्लेखसे कितना ही पोषण मिलता है और इन्द्रनन्दिके उक्त उल्लेख ( इ० पृ० १९० ) की स्थिति बहुत कुछ संदिग्ध हो जाती है। परंतु तुम्बुलूराचार्यको श्रीवर्द्धदेवसे पृथक् व्यक्ति मान लेनेपर, जिसके मान लेनेमें अभी तक कोई बाधा माऌम नहीं होती, इन्द्रनन्दीका वह उल्लेख एक मतविशेषके तौरपर स्थिर रहता है; और इस लिये इस बातके खोज किये जानेकी खास जरूरत है कि वास्तवमें तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेव दोनों एक व्यक्ति थे या अलग अलग।

विबुध श्रीधरने समन्तभद्रकी सिद्धान्तटीकाको इन्द्रनन्दीके कथन ( ४८ हजार ) से भिन्न, ६८ हजार श्लोकपरिमाण बतलाया है, यह ऊपरके उल्लेखसे—'अष्टषष्ठिसहस्रप्रमितां' पदसे—बिलकुल स्पष्ट ही है, इस विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं।

( ३ ) विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' से एक खास बात यह भी माऌम होती है कि भूतबलि नामा मुनि पहले '**नरवाहन**' नामके राजा और पुष्पदन्त मुनि उनकी वसुंधरा नगरीके '**सुबुद्धि**' नामक सेठ थे। मगधदेशके स्वामी अपने मित्रको मुनि हुआ देखकर नरवाहनने सेठ सुबुद्धिसहित जिन दीक्षा ली थी। ये ही दोनों धरसेनाचार्यके पास शास्त्रकी व्याख्या सुननेके लिये गये थे, और उसे सुन लेनेके बादसे ही इनकी 'भूतबलि' और 'पुष्पदन्त' नामसे प्रसिद्धि[1] हुई। भूतबलिने 'षट्खण्डागम' की रचना की और पुष्पदन्त मुनि 'विंशति प्ररूपणा'के कर्ता हुए। यथा—

---

1 इस प्रसिद्धिसे पहले इन दोनों आचार्योंके दीक्षासमयके क्या नाम थे, इस बातकी अभी तक कहींसे भी कोई उपलब्धि नहीं हुई।

'अत्र भरतक्षेत्रे वांमिदेशे वसुंधरा नगरी भविष्यति। तत्र नरवाहनो राजा, तस्य सुरूपा राज्ञी......। निजमित्रं मगधस्वामिनं मुनीन्द्रं दृष्ट्वा वैराग्यभावनाभावितो नरवाहनोपि श्रेष्ठिना सुबुद्धिनाम्ना सह जैनीं दीक्षां धरिष्यति।......धरसेनभट्टारकः कतिपयदिनैर्नरवाहनसुबुद्धिनाम्नोः पठनाकर्णनचिंतनक्रियां कुर्वतोराषाढश्वेतैकादशीदिने शास्त्रं परिसमाप्तिं यास्यति। एकस्य भूता रात्रौ बलिविधिं करिष्यंति, अन्यस्य दन्तचतुष्कं सुन्दरं। भूतबलिप्रभावाद्भूतबलिनामा नरवाहनो मुनिर्भविष्यति समदन्तचतुष्टयप्रभावात् सद्बुद्धिः पुष्पदन्त नामा मुनिर्भविष्यति।..........यथा षट्खण्डागमरचनाकारको भूतबलिभट्टारकस्तथा पुष्पदन्तोपि विंशतिप्ररूपणानां कर्ता।"

इस सब कथनपर कोई विशेष विचार न करके हम यहाँपर सिर्फ इतना ही बतलाना चाहते हैं कि, यद्यपि, भारतीय प्राचीन इतिहासके प्रधान ग्रंथों–'अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया' आदिमें 'नरवाहन' नामके राजाका कोई उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके दो प्राचीन ग्रंथों–'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' (तिलोय–पण्णत्ति) और 'हरिवंश-पुराण' (जिनसेनकृत) में उसका उल्लेख जरूर पाया जाता है। साथ ही भाषा हरिवंशपुराणकी श्रीनगेन्द्रनाथ वसु-लिखित प्रस्तावनासे यह भी मालूम होता है कि श्वेताम्बर संप्रदायके 'तित्थुगुलिय–पयण्ण' और 'तीर्थोद्धारप्रकीर्ण' नामक ग्रंथोंमें भी 'नरवाहन नामके राजाका

१ देखो 'गांधी हरिभाई देवकरण जैनग्रंथमाला' में प्रकाशित भाषा हरिवंशपुराणका सन् १९१६ का संस्करण।

उल्लेख मिलता है और उसे 'नरसेन' भी लिखा है। दोनों सम्प्रदायके ग्रंथोंमें नरवाहनका राज्यकाल ४० वर्षका बतलाया है परन्तु उसके आरंभ तथा समाप्तिके समयोंमें परस्पर कुछ मतभेद है। दिगम्बर ग्रंथोंके अनुसार नरवाहनका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ४४५ ( ६०+१५५+४०+३० +६०+१०० ) वर्षके बाद प्रारंभ होकर वीर नि० सं० ४८५ पर समाप्त होता है, और श्वेताम्बर ग्रंथोंके कथनसे ( नगेन्द्रनाथ वसुके उल्लेखानुसार) वह वीरनिर्वाणसे ४१३ (६०+१५५+१०८+३०+ ६० ) वर्षके बाद प्रारंभ और वीर नि० सं० ४५३ पर समाप्त होता है। इस तरह पर दोनोंमें ३२ वर्षका कुल अन्तर है। परन्तु इस अन्तरको रहने दीजिये और यह देखिये कि, यदि सचमुच ही इसी राजा नरवाहनने भूतबलि मुनि होकर 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त-ग्रंथकी रचना की है और उसका यह समय ( दोनोंमेंसे कोई एक ) ठीक है तो हमें कहना होगा कि उक्त सिद्धान्त ग्रंथकी रचना उस वक्त हुई है जब कि एकादशांगश्रुतके—ग्यारह अंगोंके—पाठी महामुनि मौजूद थे* और जिनकी उपस्थितिमें 'कर्मप्राभृत'श्रुतके व्युच्छेदकी कोई आशंका नहीं थी। ऐसी हालतमें, उक्त आशंकाको लेकर, 'षट्खण्डागम' श्रुतके अवतारकी जो कथा इन्द्रनन्दी आचार्यने अपने 'श्रुतावतार'में लिखी है वह बहुत कुछ कल्पित ठहरती है। उनके कथनानुसार भूतबलि आचार्य वीरनिर्वाण सं० ६८३ से भी कितने ही वर्ष बाद हुए हैं और इन दोनों समयोंमें प्रायः २०० वर्षका भारी अन्तर है। अतः विबुध श्रीधरके उक्त कथनकी खास तौरपर जाँच होनेकी जरूरत है और विद्वानोंको इस नरवा-

* इन एकादशांगपाठी महामुनियोंका अस्तित्व, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसार, वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षपर्य्यंत रहा है।

इन राजाके अस्तित्वादि विषयक विशेष वार्तोका पता चलाना चाहिये । विबुधश्रीधरके इस श्रुतावतारमें और भी कई वार्ते ऐसी हैं जो इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारसे भिन्न हैं ।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि, 'त्रिलोकप्रज्ञाति' पर लिखे हुए अपने लेखमें, श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीने नरवाहनको **'नहपान'** राजा सूचित किया है । परंतु उनका यह सूचित करना किस आधारपर अवलम्बित है उसे जाननेका प्रयत्न करनेपर भी हम अभी तक कुछ माळूम नहीं कर सके और न स्वयं ही दोनोंकी एकताका हमें कोई यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सका है। अस्तु। इसमें संदेह नहीं कि नहपान एक इतिहासप्रसिद्ध क्षत्रप राजा हो गया है और उसके बहुतसे सिक्के भी पाये जाते हैं । विन्सेंट स्मिथ साहबने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया'में नहपानको करीब करीब ईसवी सन् ६० और ९० के मध्यवर्ती समयका राजा बतलाया है और पं० विश्वेश्वरनाथजी, 'भारतके प्राचीन राजवंश' में उसे शककी प्रथम शताब्दीके पूर्वार्धका राजा प्रकट करते हैं । नहपानके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) का भी एक लेख शक सं० ४२ का मिला है और उससे नहपानके समयपर अच्छा प्रकाश पड़ता है । हो सकता है कि नहपान और नरवाहन दोनों एक ही व्यक्ति हों परन्तु ऐसा माने जानेपर त्रिलोकप्रज्ञति आदिमें नरवाहनका जो समय दिया है उसे या तो कुछ गलत कहना होगा और या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'त्रिलोक-

१ देखो जैनहितैषी, भाग १३, अंक १२, पृष्ठ ५३४ ।
२ देखो तृतीय संस्करणका पृ० २०९ ।

प्रज्ञप्ति ’ में शकराजाका वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद होनेका जो प्रधान उल्लेख मिलता है वह प्रायः ठीक है और उसे संभवतः शक राजाके राज्यकालकी समाप्तिका समय समझना चाहिये । अस्तु; इन सब बातोंकी जाँच पड़ताल और यथार्थ निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत है, जिसकी ओर विद्वानोंका प्रयत्न होना चाहिये ।

( ४ ) डा० हर्मन जैकोबीने अपने हालके एक लेखमें, * लिखा है कि ‘ **सिद्धसेन दिवाकर** ’ ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे अथवा उनका यही समय होना चाहिये—क्योंकि वे बौद्धतत्त्ववेत्ता[1] ‘ **धर्मकीर्ति** ’ के न्यायशास्त्रसे परिचित थेः—

“ ...The first Svetambara author of Sanskrit works which have come down to us was Siddhasen Divakara who must be assigned to the 7th century A. D. since he was acquainted with the logics of the Buddhist philosopher Dharmakirti.”

डाक्टरसाहबने, यद्यपि,अपने प्रकृत कथनका कोई स्पष्टीकरण नहीं किया परन्तु उनके इस हेतुप्रयोगसे इतना जरूर माळूम होता है कि उन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके ‘ न्यायावतार ’ ग्रंथकी खास तौरसे जाँच की है और धर्मकीर्तिके ग्रंथोंके साथ उसके साहित्यकी भीतरी जाँच परसे ही वे इस नतीजे को पहुँचे हैं । यदि सचमुच ही उनका यह नतीजा

---

* यह लेख भा० दि० जैन परिषदके पाक्षिकपत्र ‘ वीर’के गत ‘ महावीर जयन्ती अंक ’ ( नं० ११–१२ ) में प्रकाशित हुआ है ।

१ बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे, यह बात पहले ( पृ० १२३ ) जाहिर की जा चुकी है ।

सही है × तो इस कहनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि सिद्ध-सेन दिवाकरको, विक्रमादित्यकी सभाके नव रत्नोंमेंसे 'क्षपणक' नामके विद्वान् मानकर और वराहमिहिरके समकालीन ठहराकर, जो ईसाकी छठी और पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् बतलाया गया है, अथवा

---

× धर्मकीर्तिके 'न्यायबिन्दु' आदि ग्रंथोंके सामने मौजूद न होनेसे हम इस विषयकी कोई जाँच नहीं कर सके। हो सकता है कि 'न्यायावतार'में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंके जो लक्षण दिये गये हैं वे धर्मकीर्तिके लक्षणोंको भी लक्ष्य करके लिखे गये हों। 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं' यह 'प्रत्यक्ष' का लक्षण धर्मकीर्तिका प्रसिद्ध है। न्यायावतारके चौथे पद्यमें प्रत्यक्षका लक्षण, अकलंकदेवकी तरह 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' न देकर, जो 'अपरोक्ष-तयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षं' दिया है, और अगले पद्यमें, अनु-मानका लक्षण देते हुए, 'तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात्समक्षवत्' वाक्यके द्वारा उसे (प्रत्यक्षको) 'अभ्रान्त' विशेषणसे विशेषित भी सूचित किया है उससे ऐसी ध्वनि जरूर निकलती है अथवा इस बातकी संभावना पाई जाती है कि सिद्धसेनके सामने–उनके लक्ष्यमें–धर्मकीर्तिका उक्त लक्षण भी स्थित था और उन्होंने अपने लक्षणमें, 'ग्राहकं' पदके प्रयोगद्वारा प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर, धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढं' विशेषणका निरसन अथवा वेधन किया है और, साथ ही, उनके 'अभ्रान्त' विशेषणको प्रकारान्तरसे स्वीकार किया है। न्यायावतारके टीकाकार भी 'ग्राहकं' पदके द्वारा बौद्धों (धर्मकीर्ति) के उक्त लक्षणका निरसन होना बतलाते हैं। यथा—

"ग्राहकमिति च निर्णायकं दृष्टव्यं, निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्। तेन यत् ताथागतैः प्रत्यपादि 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति' तदपास्तं भवति, तस्य युक्तिरिक्तत्वात्।"

इसी तरहपर 'त्रिरूपाल्लिंगतो लिंगिज्ञानमनुमानं' यह धर्मकीर्तिके अनुमानका लक्षण है। इसमें 'त्रिरूपात्' पदके द्वारा लिंगको त्रिरूपात्मक बतलाकर अनुमानके साधारण लक्षणको एक विशेषरूप दिया गया है। हो सकता है कि इस पर लक्ष्य रखते हुए ही सिद्धसेनने अनुमानके 'साध्याविना-

विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् कहा जाता है वह सब ठीक नहीं है। साथ ही यह भी कहना होगा कि वराहमिहिर अथवा कालिदासके समकालीन 'क्षपणक' नामके यदि कोई विद्वान् हुए हैं तो वे इन सिद्धसेन दिवाकरसे भिन्न दूसरे ही विद्वान् हुए हैं। और इसमें तो तब, कोई संदेह ही नहीं हो सकता कि ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें, जिन 'सिद्धसेन'का उल्लेख किया है वे अवश्य ही दूसरे सिद्धसेन थे—

**वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥ ५–१–७ ॥**

आश्चर्य नहीं जो ये दूसरे सिद्धसेन हों जिनका दिगम्बर ग्रंथोंमें उल्लेख पाया जाता है और जिनका कुछ परिचय पृष्ठ १३८–१३९ पर दिया जा चुका है—दिगम्बर ग्रंथोंमें सिद्धसेनका 'सिद्धसेन दिवाकर' नामसे उल्लेख भी नहीं मिलता;—ऐसी हालतमें इस बातकी भी खोज लगानेकी खास जरूरत होगी कि सिद्धसेनके नामसे जितने ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं उनमेंसे कौन ग्रंथ किस सिद्धसेनका बनाया हुआ है। आशा है डाक्टर महोदय अपने हेतुको स्पष्ट करनेकी कृपा करेंगे और दूसरे विद्वान् भी इस जरूरी विषयके अनुसन्धानकी ओर अपना ध्यान देंगे।

---

भुनोर्लिंगात्साध्यनिश्चायकमनुमानं' इस लक्षणका विधान किया हो और इसमें लिंगका 'साध्याविनाभावी' ऐसा एक रूप देकर धर्मकीर्तिके त्रिरूपका कदर्थन करना ही उन्हें इष्ट रहा हो। कुछ भी हो, इस विषयमें अच्छी जाँचके विना अभी हम निश्चितरूपसे कुछ कहना नहीं चाहते।

## स्वामी समन्तभद्रका शुद्धि-पत्र ।

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २ | २५ | जो गुणादि प्रत्ययको | जो ठीक होनेपर गुणादि-प्रत्ययको |
| ५ | ३ | उत्वलिका | उत्कलिका |
| ६ | १२ | कि | किया है |
| ,, | २४ | नामा | नाम्ना |
| ८ | २२ | सुष्टु | सुष्ठु |
| ,, | २४ | भवात् | भयात् |
| १२ | १२ | यही | प्रायः यही |
| ,, | २१ | युक्त्यनुशासन | स्वयंभूस्तोत्र |
| १४ | १६ | हो | हुआ हो |
| १७ | १८ | * | × } ( दूसरा फुटनोट पहले |
| ,, | २६ | × | * } छपना चाहिये था।) |
| १८ | १९ | कविनूतन | कविर्नूतन |
| ,, | २४ | मतिव्युत्पत्ति | मतिर्व्युत्पत्ति |
| १९ | २२ | निश्चयात्मक | निश्चायक |
| २३ | ९ | सरस्वति | सरस्वती |
| ,, | १८ | श्वर्णीचकार | श्वूर्णीचकार |
| ३२ | ५ | साधन | कोई साधन |
| ४४ | १–२ | कलिकालमें | कलिकाल |
| ४५ | २२ | आचार्यस्य | ...आचार्यस्स |
| ४६ | ११ | उत्तीर्ण | उत्कीर्ण |
| ४७ | १८ | अनेक | उनके |
| ५० | ११ | जिनैकगुणसंस्तुति | जिनेन्द्रगुणसंस्तुति |
| ,, | १४ | अलंघ्यवीर्ये | अलंघ्यवीर्यो |
| ,, | १६ | गरल विष | गरल ( विष ) |
| ,, | २४ | ददातीति | ददतीति |
| ५४ | १ | भी | श्री |
| ५५ | २४ | पुण्यस्रवचम्पू | पुण्यास्रवचम्पू |
| ६६ | २४ | फलः | फलाः |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध | |
|---|---|---|---|---|
| ७५ | १५ | कर्मफलको | कर्ममलको | |
| ७८ | १८ | तपो | तृपो | |
| ७९ | ११ | सिवाय | सिवाय, | |
| ८२ | १७ | दुःखोंकी | दुःखोंको | |
| ८४ | १ | सहनकर | सहनका | |
| ,, | १७ | विद्यते | खिद्यते | |
| ८८ | २१ | समन्तभद्रका | समन्तभद्रको | |
| ९० | ७ | प्रवत्ति | प्रवृत्ति | |
| ९६ | २० | मुनिपरालिये | मुनिपरलिये | |
| ,, | २२ | ऊपरसे | ऊपर | |
| १०२ | ११ | पुण्ड्रेन्द्र | पुण्ड्रेन्दु | |
| ,, | २१ | पुण्ड्रेन्द्र | पुण्डरेन्दु | |
| ,, | २२ | इन्द्रपुर | इन्दुपुर | |
| ,, | २३ | में | ( श्लोक ११ ) में | |
| १०५ | २२ | उसका | उनका | |
| १०६ | १७ | पुण्ड्रेन्द्र | पुण्ड्रेन्दु | |
| ११७ | १४ | इसका | इनका | |
| १२५ | २ | उसे समंतभद्रके | समंतभद्रको उसके | |
| १२८ | २३ | साधारणं | साधारणं लक्षणं | |
| १३३ | १३ | वाराहमिहिरो | वराहमिहिरो | |
| १३५ | १७ | शककालममास्य | शककालमपास्य | |
| ,, | १८ | यंवनपुरे | यवनपुरे | |
| १३९ | ११ | तु | च | |
| ,, | १२ | मेचकाः ॥ ३२ ॥ | मेचकः ॥ ३९ ॥ | |
| ,, | २२ | भिन्न | भिन्न हैं | |
| १४० | १७ | स्वरूपसे | स्वस्वरूपसे | |
| १४१ | २ | कोशंग्रंथोंमें | कोशग्रंथोंमें | इस पृष्ठकी नं. १ की टिप्पणी १४० वें पृष्ठकी टिप्पणीका एक अंश है। |
| ,, | २० | परिचय | परिचय | |
| ,, | २१ | १ टीकांशः— | टीकांशः... | |
| ,, | २३ | २ | १ | |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १४२ | २२ | जैनेन्द्रसंह | जैनेन्द्रसंह |
| १५८ | १४ | शिलालेखमें | शिलालेखोंमें |
| ,, | २१ | गृद्धपिच्छः | गृध्रपिच्छः |
| १५९ | १६ | सं० ९४ | सं० ४९ |
| १६१ | १ | दोनों | उन दोनों |
| १६४ | १८ | ३६१ | ४६१ |
| १६६ | १३ | मिथ्या | यह मिथ्या |
| ,, | २३ | कौण्डकुन्दान्वय | कोण्डकुन्दान्वय |
| ,, | ,, | अभयणंदि | अभ[य]णंदि |
| १६७ | १७ | उल्लेख | उल्लेख भी |
| १६८ | ९ | पवयणभक्ति | पवयणमत्ति |
| १७७ | २ | १३३ | १२३ |
| १८३ | ८ | भद्रबाहुस्स | भद्दबाहुस्स |
| १८९ | ११ | १७ सं० | १७ से |
| ,, | २१ | श्रुतावतार | इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार |
| १९३ | ८ | योगे | योगे |
| १९४ | ६ | उदपिसिदट्ठ | उदयिसिदट्ठ |
| १९६ | १ | भद्रबाहुका | भद्रबाहु द्वितीयका |
| २१८ | १७ | नं० ३५० | नं० ३५ |
| २२८ | ३ | प्रस्तावना प्रकरण | प्रस्ताव या प्रकरण |
| २३२ | ७ | श्रीमत्स्वामीसमंतभद्द | श्रीमत्स्वामिसमंतभद्र |
| २३३ | २४ | सिद्धप्य | सिद्धय्य |
| २३४ | २० | विरचयत । | विरचयता |
| २३९ | ५ | माहात्म्यमतीन्दियं | माहात्म्यमतीन्द्रियं |
| ,, | ११ | किमति | किमिति |

नोट—बिन्दु-विसर्ग और विराम चिह्नादिकी कुछ दूसरी ऐसी साधारण अशुद्धियोंको यहाँ देनेकी जरूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं।

---

# अनुक्रमणिका ।



ठ, ढ



त, थ

ह

